

श्री गुरुजी
और
द्वैक्षणिक प्रबोधन



संकलनकर्त्ता
लज्जाराम जी तोमर

श्री गुरुजी और शैक्षणिक प्रबोधन

संकलनकर्ता

लज्जाराम जी, तोमर

अनुक्रमणिका

१. भारतीय शिक्षा का सच्चा स्वरूप ३
विद्यालय प्रारम्भ करने का उद्देश्य, शिक्षा का वास्तविक अर्थ है मनुष्य को जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्मुख करना, छात्रों को शारीरिक शक्ति सम्पन्न बनाना, शारीरिक शक्ति के साथ चरित्र की शक्ति भी आवश्यक, वह विद्यालय सब प्रकार से उत्कर्षशील हो।
२. शिक्षा के केन्द्र बिन्दु शिक्षक ११
हमारी मौलिक अवधारणा, ज्ञानकोश का उपयोग करें, विकृति की शुद्धि कीजिए, पूरे मन से हिन्दू बनो, अपने प्रति सच्चे बनें, मुख्यअवरोध, विपर्यय, आधार को न भूलें।
३. हम और हमारे विद्यार्थी १७
समाज की तीन विभाग-श्रेणियों, अधिक महत्त्व के प्रश्न, वर्तमान शिक्षा केवल सूचनात्मक है, मनुष्य निर्माण, ध्येयोन्मुख शिक्षा-प्रणाली, योग्य वातावरण, मार्गदर्शक शिक्षक, माता-पिता का कर्तव्य, विद्यार्थी संगठन राजनीतिक दलों से मुक्त हों, संगठित युवा-शक्ति को स्वस्थ कामों में लगाएँ, पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका, दृश्य-श्रव्य साधन, नीति-निरपेक्षता भयानक, विचार करने की मौलिक दृष्टि।
४. माता बालक की प्रथम गुरु २५
पहली किरण का प्रभाव, वेश-भूषा के संस्कार, नारी रणचण्डी कैसे बनी?, आधुनिकता का बोझ, शौर्यमय मातृत्व के महाकाव्य, शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन, यदि सामाजिक ताना-बाना नष्ट हो गया, तो वास्तविक यज्ञ, पड़ोसी के प्रति दायित्व, अभावग्रस्त की सेवा, सावित्री की आत्मा का आह्वान,
५. विदेशों में शिक्षा कैसे ग्रहण करें ? ३०
संदर्भ ग्रन्थ सूची ३२

9. भारतीय शिक्षा का सच्चा स्वरूप

श्रीमद्भगवद् गीता वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय के रजत जयन्ती एवं गीता निकेतन आवासीय विद्यालय, कुरुक्षेत्र के भवन शिलान्यास समारोह के अवसर पर पू० गुरुजी द्वारा दिया गया उद्बोधन -
विद्यालय प्रारम्भ करने का उद्देश्य

श्री मद्भगवद् गीता-विद्यालय के विद्यार्थियों ने विभिन्न शारीरिक और गीत, प्रहसन आदि के जो कार्यक्रम अभी प्रस्तुत किए, उन्हें देखकर इस विद्यालय की रचना का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। इसलिए विद्यालय के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। अनेक वर्ष पूर्व अपने यहाँ के श्री लाला नाथूराम जी तथा उनके साथियों ने बड़े उत्साह से विद्यालय प्रारंभ करने का संकल्प किया था। यह विद्यालय उसी संकल्प का फल है। इसके भवन-शिलान्यास के अवसर पर भी मैं उपस्थित था। उस समय आसपास के अनेक स्थानों से बड़ी संख्या में उत्साहपूर्वक लोग एकत्रित हुए थे। उस उत्साह को देखकर मुझे विश्वास हुआ था, कि यह विद्यालय अवश्य प्रगति करेगा।

विद्यालय प्रारम्भ करते समय एक उद्देश्य भी सामने रखा गया था। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में धर्म, नीति, राष्ट्रभक्ति, मातृभूमि के प्रति अनन्य श्रद्धा आदि के संस्कार देने की कोई प्रभावी व्यवस्था नहीं थी। इस कमी को दूर करने का प्रयास हम इस विद्यालय में करेंगे, इसी विश्वास को हृदय में धारण कर यह विद्यालय प्रारम्भ किया गया था। आज यह देखकर बड़ा आनन्द हुआ, कि उस समय धारण किया हुआ विश्वास पूरा हो रहा है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेजों ने इस देश में योजनापूर्वक लम्बे समय तक इस बात का प्रयास किया, कि इस देश का राष्ट्रीय समाज अपने इतिहास, संस्कृति तथा सभ्यता को पूरी तरह भुला दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, उन्होंने शिक्षा की एक योजना बनाई। इस योजना के अंग्रेज मूलपुरुष ने कहा था, कि भारत में काले अंग्रेजों का निर्माण करना है। इसी प्रकार की स्वत्वशून्य शिक्षा की रचना, हमारे देश में चलती रही। अंग्रेजों की इस कूटनीति को, उस समय हमारे देश के जानकार लोगों ने पहचाना था। इसीलिए देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान अंग्रेजी शिक्षा का विरोध भी होता रहा था। पराधीनता के उस काल में, इसलिए स्वत्व और स्वाभिमान का आवेश था। राष्ट्रीय शिक्षा के नाम से कुछ प्रयत्न भी प्रारम्भ हुए थे। उसी परम्परा के आधार पर शिक्षा-दीक्षा के लिए समाज प्रयत्नशील रहा था। परन्तु परकीय शासन समाप्त होते ही, यह स्वत्व की प्रेरणा लुप्त हो गई। हमारा जीवन, परानुकरण के दुश्चक्र में फँस गया। अपने 'स्व' का विस्मरण ही नहीं हुआ, अपितु हम उसका निषेध तक करने लगे। रहन-सहन, चारित्र्य, कर्तव्यबोध, वैचारिक भूमिका आदि किसी भी दिशा में देखें, तो हम पाएँगे कि यहाँ विवेकशून्य अन्धानुकरण मात्र चल रहा है।

अपनेपन का विस्मरण और विदेशियों की अन्धी नकल के फेर में पड़कर हम अपने जीवन के मूलगामी सिद्धान्तों को भी भुलाते जा रहे हैं। इसीलिए शिक्षा का वास्तविक अर्थ समझने में भी असमर्थ हो रहे हैं। बड़े-बड़े लोगों के मुँह से सुनने को मिलता है, कि शिक्षा रोजगार-उन्मुख होनी चाहिए। ऐसा कहा जाता है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता है। पैसा कमाता है। इसका अर्थ यह हुआ, कि शिक्षा मनुष्य को पैसा कमाने योग्य बनाती है। शिक्षा का यह अर्थ अत्यन्त निकृष्ट है।

शिक्षा का वास्तविक अर्थ है मनुष्य को जीवन के अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्मुख करना

वास्तव में शिक्षा तो वह है, जिसके द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर अपनी उन्नति करता हुआ जीवन के सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य को प्राप्त कर सके। यह कुरुक्षेत्र की भूमि है। कौरव-पांडवों का युद्ध, इसी भूमि पर हुआ बताया जाता है। युद्ध प्रारम्भ होने के दिन श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता द्वारा धर्मवृत्ति का उपदेश करते हुए अर्जुन को प्रेरित किया था। इसी उपदेश के अन्तिम भाग में मनुष्य-जीवन के लक्ष्य के विषयों में इस प्रकार का उल्लेख आया है -

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं त प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

‘मन्मना’ याने अपने याने अपने अन्तःकरण में मुझे पूरी तरह समा लें, अपना अन्तःकरण मेरे रंग में रंग लें। ‘मद्भक्तो’ अर्थात् मेरा भक्त याने जो विभक्त नहीं, उसे भक्त कहते हैं। इसलिए मुझसे विभक्त मत रहना। ‘मद्याजी’ मेरे लिए यज्ञरूप जीवन चला और ‘मां नमस्कुरु’ याने वह नमस्कारपूर्वक मुझे समर्पण कर दे। यहाँ पर ‘मुझे’ अथवा ‘मन्मना’ का जो शब्द-प्रयोग हुआ है, वह श्रीकृष्ण जी ने व्यक्तिगत रूप से स्वयं के बारे में किया है, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं। यहाँ श्रीकृष्ण नामक कोई व्यक्ति नहीं अपितु सृष्टि की स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय की जो मूल शक्ति भगवान के रूप में है, उसके लिए कहा गया है - ‘मन्मना भव’।

शिक्षा का अर्थ है मनुष्य को जीवन के इस अन्तिम लक्ष्य की ओर उन्मुख करना, तैयार करना। इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है, कि मनुष्य में अनेक प्रकार के सद्गुण हों। ये सद्गुण सहसा नहीं आयेंगे। इनके लिए प्रयत्न करना होगा। इसीलिए इन गुणों के संस्कार बचपन से ही अपने जीवन में करते रहने की आवश्यकता रहती है।

इन सद्गुणों का उल्लेख कई बार हमारे समाज-जीवन में होता रहता है। सच्चाई से रहना, किसी के बारे में अपने अन्तःकरण में द्वेष की, घृणा की भावना न रखना, काया, वाचा, मनसा, पवित्र रहना, काम-कंचन के सब प्रकार के व्यामोह से दूर रहना, अपने-आप को पूरी तरह काबू में रखना, इस प्रकार अन्तःकरण को विशाल बनाना कि पूरा विश्व ही मेरा परिवार है, इस विशाल मानव-समाज की सेवा में स्वयं को पूरी तरह समर्पित कर देना, इस समर्पण में भी कोई स्वार्थ मन में आने न देना आदि संस्कार बहुत आवश्यक हैं।

सम्पूर्ण विश्व को अपना परिवार मानने की विशाल भावना में यह तथ्य अन्तर्भूत है। भारतीय जीवनदृष्टि की विशेषता है, कि विश्व के प्रत्येक भू-भाग में रहने वाला समाज अपने वैशिष्ट्य से जीवन यापन करे। अपनी परम्परागत जीवन-प्रणाली को अपने देश में चलाने से, वह समाज उस देश के साथ सम्बद्ध रहता है। देश और समाज की इस सम्बद्ध भावना के फलस्वरूप, राष्ट्र के रूप में वे जगत् के सामने उपस्थित होते हैं, इसीलिए हमारी यह मान्यता है कि प्रत्येक राष्ट्र का अपना वैशिष्ट्य है और वह वैशिष्ट्य बना रहना विश्व की प्रगति में नितान्त आवश्यक है। विश्व के विभिन्न मानव-समुदायों की इन जीवन-विशेषताओं को समाप्त करने का अर्थ होगा मनुष्य के हाथ, पैर, कान, नाक आदि सभी अवयवों को तोड़-मरोड़कर केवल मांस के एक गोले के रूप में देखना। क्या मनुष्य का ऐसा रूप हमें ग्राह्य लगेगा ? यह बात अखिल जगत् के मानव के लिए कल्याणकारी कदापि नहीं हो सकती। इसलिए ऐसी स्थिति उत्पन्न करना ही विशालता की ओर जाना है कि विश्व के सभी मानव-समुदाय अपनी-अपनी विशेषताओं से अखिल मानवता का पोषण करें और जगत् को बहुविध विशेषताओं से पूर्ण देखकर आनन्द का अनुभव करें। सभी राष्ट्रों को अपने वैशिष्ट्य का आविष्कार करते हुए तथा उन विशेषताओं का सब प्रकार से संवर्धन करते हुए आपस में मित्रता, प्रेम एवं बन्धुता से रहना चाहिए।

सम्पूर्ण जगत् का हित साधनेवाला यह विचार अपने सामने रखकर चलना चाहिए। यह दृष्टि यदि नहीं रही, क्षुद्र स्वार्थवश आपस में मित्र-भाव का लोप हो गया, तो जगत् के राष्ट्र नित्य संघर्ष करते रहते हैं। आज विश्व में ऐसी स्थिति विद्यमान है। विभिन्न मानव-समुदायों की इन विविध विशेषताओं को नष्ट करने का प्रयत्न

करने वाली विचारधाराएँ आज विश्व पर हावी हैं। वे अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए, विश्व में अन्य किसी को स्वतंत्र रहने देना नहीं चाहतीं। फलस्वरूप संघर्ष होते हैं।

ऐसी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने पर किसी भी भू-भाग में रहने वाले एक वैशिष्ट्यपूर्ण मानव-समुदाय, जो राष्ट्र के रूप में संगठित रहता है, उसे अपना वैशिष्ट्य सुरक्षित रखना जरूरी है। अपनी राष्ट्रीय विशेषता को सुरक्षित रखते हुए जगत् के अन्य राष्ट्रों को अपनी इन विशेषताओं का अनुभव कराते हुए उसे रहना चाहिए ताकि विश्व के मानव-समुदायों की इन विविधताओं की विशेषताओं को नष्ट करने वाली विचारधाराएँ जगत् का विनाश करने से बाज आएँ। यह नितान्त आवश्यक कार्य है। अनी राष्ट्रगत विशेषताओं को सुरक्षित रखना, मानव-कल्याण का ही कार्य है।

विश्व-कल्याण की भावना से प्रेरित यह दायित्व निभाना प्रत्येक जागरूक राष्ट्र का कर्तव्य है। हमें भी इसी उत्तरदायित्व की पार्श्वभूमि में, विश्व की वर्तमान संघर्षपूर्ण स्थिति में अपने राष्ट्र-जीवन को सुरक्षित रखने का विचार करना चाहिए।

यह कार्य सरल नहीं है। इसे वही कर सकते हैं जो राष्ट्र की परम्परा को जानते हैं। अपने राष्ट्रीय पूर्वजों का समुचित आदर करना जानते हैं। राष्ट्र और मातृभूमि से नितान्त प्रेम करते हैं। अपने अन्तःकरण में इस विशुद्ध भाव को धारण करते हैं, कि राष्ट्र-हित के सामने व्यक्तिगत हित नाम की कोई चीज ही नहीं है। जो सोचते हैं कि राष्ट्ररूपी भगवान् की पूजा करने के लिए जीवन का कोई भी पक्ष दुर्बल नहीं रहने देना है, इस लिए जीवन को पूर्ण पवित्र बनाने का जो प्रयत्न करते हैं, ऐसे व्यक्तियों की संगठित शक्ति द्वारा ही राष्ट्र के वैशिष्ट्य का रक्षण एवं संवर्धन होता है, और तभी संभव होता है इस संघर्षपूर्ण विश्व में राष्ट्र को अबाधित वैभवशाली बनाए रखना।

इस उद्देश्य और कार्य की पूर्ति के लिए, राष्ट्र में राष्ट्रभक्त और चरित्रवान् लोग तैयार करना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए छात्रों-युवकों को कहा जाता है कि उन्हें राष्ट्र की जिम्मेवारी सँभालनी है। नित्य प्रति सभी लोग छात्रों को आवाहन करते हैं-“तुम्हारे ऊपर ही राष्ट्र का महल खड़ा होने वाला है। तुम्हारे कंधों पर ही प्रगति का मन्दिर बनेगा। तुम राष्ट्र के आधारस्तम्भ हो आदि। जब मैं ऐसी घोषणाएँ सुनता हूँ, तो मेरे मन में विचार आता है कि आधारस्तम्भ कितने मजबूत होने चाहिए ? निस्संदेह इनमें किसी प्रकार का कीड़ा लगा हुआ नहीं होना चाहिए। यदि कोई कमजोरी रहेगी, तो सम्पूर्ण राष्ट्र-मन्दिर ढह जाएगा। इसलिए ये छात्र अतीव उत्तम होने चाहिए। तभी वे अपने कंधों पर मन्दिर को सुरक्षित रख सकेंगे।

परन्तु इस सम्बन्ध में क्या आज की स्थिति सन्तोषजनक है ? दिखाई देता है कि चारों ओर विपरीत भाव व्याप्त हैं। सभी लोग चारित्र्यहीनता के संकट की बात करते हैं। चरित्र-निर्माण का तरीका क्या है ? चारित्र्य का प्रारम्भ तो ऊपर से होता है। समाज के श्रेष्ठ पुरुषों से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाता है। परन्तु आज दिखाई यह देता है कि साधनसम्पन्न श्रेष्ठ वर्ग, अपने इस उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन हैं। बड़े कहलाने वाले, चारित्रिक दृढ़ता का विचार तक करने के लिए तैयार नहीं हैं। तब क्या समाज की धारणा हो सकेगी ? राष्ट्र प्रगति कर सकेगा ? सुस्थिति बनेगी ? देश में शान्तिपूर्ण, सुख-समृद्धिपूर्ण जीवन की उपलब्धि हो सकेगी।

यही कारण है कि चरित्रगत ढीलापन चारों ओर फैल रहा है। इस स्थिति में तो छात्र को चरित्रवान् बनाने का कार्य और भी अधिक महत्त्व प्राप्त करता है। परन्तु क्या इस ओर किसी का ध्यान है ? कहना होगा कि ध्यान नहीं है। हम विचार करें तो आज की शिक्षा-व्यवस्था में दिखाई देगा कि छात्र-वर्ग में अपने राष्ट्र-जीवन का कोई अभिमान नहीं है। हम उन्हें इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी देने की व्यवस्था नहीं करते। उन्हें विविध पहलुओं से ज्ञानवान् और स्वाभिमानि नहीं बनाते।

आज के विद्यार्थियों में इसी कारण स्वतः के जीवन के बारे में कोई अभिमान नहीं है। उन्हें राष्ट्र-जीवन की कोई जानकारी नहीं है। राष्ट्र-पुरुषों की जीवनियाँ उन्हें ज्ञात नहीं। धर्म के श्रेष्ठ उद्गाताओं का, उनके द्वारा निर्मित प्रेरणाओं का उन्हें परिचय नहीं। किसी विद्यार्थी से यदि कहा कि अपने यहाँ हल्दीघाटी का एक बड़ा युद्ध हुआ है, तो पता चलेगा कि उसको हल्दीघाटी का श्रेष्ठ प्रसंग ही मालूम नहीं! उनसे बातचीत करते समय मुझे यही विदित होता है, कि अनेक छात्रों को हल्दीघाटी और उन जैसे अन्य राष्ट्रीय प्रसंगों के पराक्रम और पौरुष की जानकारी ही नहीं।

एक बार मैंने कुछ विद्यार्थियों से कहा कि छत्रपति शिवाजी महाराज के इतिहास के कालखंड में पावन-खिण्ड नामक एक स्थान का उल्लेख आता है, जहाँ अनोखे पराक्रम, देशभक्ति और समर्पण-भाव का बड़ा प्रेरक प्रसंग उपस्थित हुआ है। किन्तु मुझे दिखाई दिया कि जिन्हें मैं यह बता रहा था, उन्हें इसकी जानकारी ही नहीं है। उनमें से एक ने पूछा कि यह स्थान किस बात के लिए प्रसिद्ध है? मैंने बताया कि शिवाजी महाराज के साथी राष्ट्र-भक्तों ने जब देखा कि विशाल सेना लिए शत्रु चढ़ आया और अपने प्राणप्रिय नेता तथा पर्याय से राष्ट्र पर संकट आ उपस्थित हुआ है, तो उस आक्रमण को रोकने के लिए एक सँकरे पहाड़ी स्थान पर इन मुट्टी भर राष्ट्रभक्तों ने शत्रु की विशाल सेना को रोक रखा और बारी-बारी से अपने बलिदान देते गए। इस प्रकार अपनी दृढ़ता और पराक्रम से उन्होंने शत्रु को उस स्थान से एक भी कदम आगे बढ़ने नहीं दिया। जब मैंने ऐसा बताया, तो उसने पूछा - 'वह, क्या ऐसे प्रसंग कहीं अपने इतिहास में भी हैं? ये तो पुराने ग्रीक-इतिहास में थर्मोपायली नामक जो इतिहासप्रसिद्ध युद्ध हुआ था, वहाँ का प्रसंग है।' कहने का मतलब यह कि उन्हें थर्मोपायली मालूम था, पर पावन-खिण्ड अथवा हल्दीघाटी मालूम नहीं थी। मैं अपने मन में सोचता रहा कि अपने स्वत्व का, स्वाभिमान का जिन पर कोई संस्कार ही नहीं, वे राष्ट्र के आधार स्तम्भ कैसे बनेंगे?

छात्रों को शारीरिक शक्ति सम्पन्न बनाना

यदि राष्ट्र का आधार मजबूत बनाना है, इन छात्रों को शक्तिशाली बनाना होगा। इन सुदृढ़ शक्तिशाली आधारस्तम्भों पर ही राष्ट्र का भव्य भवन निर्मित हो सकेगा। इसलिए प्रत्येक नवयुवक के निर्माण के विषय में सोचना चाहिए कि वह शक्तिशाली हो। इसका शरीर इतना बलवान हो, कि वह सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों को वहन कर सके। उसी प्रकार मन और बुद्धि अत्यन्त मजबूत होनी चाहिए। इन सब शक्तियों को एकाग्रता और नियमपूर्वक वृद्धिगत करना चाहिए। कुशाग्र बुद्धि, सर्वांगीण ज्ञान, परिपुष्ट शरीर, संस्कारयुक्त अन्तःकरण और राष्ट्र-सम्बन्धी विविध जानकारियों से भरा हुआ स्वाभिमानपूर्ण स्वावलम्बी मस्तिष्क का निर्माण युवकों में होना आवश्यक है।

मैं अनेक युवकों से पूछता हूँ कि भाई, शरीर को बलवान बनाने के लिए कुछ प्रयत्न करते हो? क्वचित् एकाध उत्तर ही ऐसा मिल पाता है जिससे यह लगे कि वह शरीर को बलवान बनाने के लिए व्यायाम करता है। अभी हमने छात्रों द्वारा किए गए विविध कार्यक्रम देखे। सामने जो मलखम्भ लगा है, उसपर भी कुछ व्यायाम छात्रों ने कर दिखाए। इसे देखकर मुझे अपने बचपन की याद आ गई। मुझे लगा कि मैं भी यहाँ से कूदकर इस मलखम्भ पर कुछ खेल करूँ। परन्तु अब भगवान् ने मेरे शरीर में ऐसा कुछ करने का सामर्थ्य शेष नहीं रखा। इसलिए कुछ कर पाऊँगा, ऐसा नहीं लगता। फिर भी मलखम्भ और उसका व्यायाम देखकर मन में बड़ा प्रेम होता है। इसका अर्थ यही है कि मैंने बचपन में अपने शिक्षकों की प्रेरणा से ऐसे व्यायाम किए हैं, जिनका लाभ मुझे मिलता रहा। पिछले लगभग ४० वर्षों से लगातार मैं घूमता-फिरता रहा हूँ। खाना-पीना भी भगवान् की कृपा से तदनु रूप ही चलता है। निद्रा का तो कई बार कोई ठिकाना ही नहीं रहता। फिर भी इतने वर्षों से यह शरीर खड़ा है, कार्यक्षम है। मैं ऐसा समझता हूँ कि शरीर को पहले जो व्यायाम इत्यादि कर मजबूत

बनाया था, उसी कारण यह शरीर कुछ कर सका। मैं सोचता हूँ कि हम लोग अपने शरीर को सुदृढ़-बलवान नहीं बनायेंगे, तो राष्ट्र-कार्य भला किस प्रकार कर सकेंगे।

शारीरिक शक्ति के साथ चरित्र की शक्ति भी आवश्यक

शारीरिक शक्ति के साथ ही चरित्र की शक्ति भी आवश्यक है। हमारे जीवन में सादगी, निःस्वार्थता, त्याग, सरलता, लगन, परिश्रमशीलता, तपस्या आदि सद्गुण निर्माण होने चाहिए। चरित्र की यह शक्ति, मनुष्य के अन्दर उसके द्वारा किए जाने वाले सतत् चिन्तन से प्राप्त होती है। चिन्तन का आधार राष्ट्र के प्रति प्रखर भक्ति ही है। भक्तिवान अंतःकरण ही चरित्रवान होगा। मातृभूमि की भक्ति हृदय में जागृत होगी, तो सद्गुणों को अर्जित करने की चेष्टाएँ प्रारम्भ होने में विलम्ब नहीं लगेगा। इसलिए राष्ट्र के प्रति भक्ति और उस भक्ति को सार्थकता प्रदान करने वाला चरित्र इन दोनों का चिन्तन नित्य करते रहना चाहिए। विभिन्न कार्यक्रमों और अध्ययन के माध्यम से, अपनी मातृभूमि का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। ऐसा करते समय स्वाभाविक ही उन महापुरुषों के जीवन-प्रसंगों में हमें अनेक सद्गुण दिखाई देंगे। इस प्रकार हमें न केवल सद्गुण प्राप्त करने की प्रेरणा मिलेगी वरन् उन्हें पा सकने के लिए प्रयत्नों की दिशा भी हम समझ सकेंगे।

मैं समझता हूँ कि अपने इस विद्यालय में इस प्रकार के चारित्रिक विकास की ओर ध्यान दिया जाता है। अन्यथा इस विद्यालय का कोई वैशिष्ट्य नहीं रहेगा। तब इसे चलाने की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि हम चाहते हैं कि बच्चों का चरित्र अच्छा हो, तो उनके सामने श्रेष्ठ पुरुषों के उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक ही है। इस बात की ओर ध्यान देना चाहिए।

आज यदि हम अपने चारों ओर देखें, तो हमें पता चलेगा कि भ्रष्टाचार का बड़ा बोलबाला है। बड़े-बड़े लोग सार्वजनिक जीवन के आदर्शों से कोसों दूर हैं। आम चर्चा है कि देश में चरित्रहीनता का संकट है। यह सब इतना व्यापक है कि इसके सम्बन्ध में बोलने में भी मुझे संकोच होता है। अभी कल-परसों की बात है, एक स्थान पर धर्मयुग साप्ताहिक का एक अंक पढ़ रहा था। उसमें एक लेखक द्वारा इस बात का वर्णन किया गया था कि व्यापार बढ़ाने के लिए लोग किस-किस प्रकार से स्त्री का उपयोग करते हैं। लाइसेन्स-परमिट देने का कार्य करने वाले बड़े अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए, स्त्री का प्रयोग करने की बातें उस लेख में कही गई हैं। राजनीतिक क्षेत्र के भी कुछ उदाहरण दिए हैं। उसने लिखा है कि विरोधी पक्ष के भेद निकालकर उन्हें परास्त करने के लिए भी ऐसी बातों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार का व्यापार है। स्त्रियों के चित्रों का खूब उपयोग होता दिखाई देता है। यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, कि सेफ्टी रेजर-ब्लेड के विज्ञापन के लिए भी एक स्त्री का क्या वास्ता ? परन्तु मनुष्य की विषय-वासना को उभाड़कर उसे कर्तव्यभ्रष्ट और सन्मार्गभ्रष्ट करने का प्रयत्न दिन-पर-दिन बढ़ता हुआ दिखाई देता है।

इस प्रकार मनुष्यों को कर्तव्यभ्रष्ट करने के लिए अपनाए गए अनेक उदाहरण उस लेखक ने दिए हैं, जिनका अधिक उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। आज ऐसे अनेक कार्य हो रहे हैं, जिनके चारों ओर भ्रष्टाचार फैलता जा रहा है। मनुष्य पर यह भीषण आक्रमण है। कई बार हम तलवार, बन्दूक आदि शस्त्रास्त्रों के वार से रक्षा की बात सोचते हैं। परन्तु भ्रष्टाचार के जो प्रयत्न होते हैं, उनसे रक्षा करना बहुत कठिन होता है। अब इनका क्षेत्र, जैसा मैंने पहले कहा, काफी बढ़ा हुआ है। इसलिए इन विविध प्रकार के प्रलोभनों के प्रहारों को पहचान कर उनके साथ टकराने और उन पर विजय प्राप्त कर लेने का सामर्थ्य हममें होना चाहिए। आज की परिस्थितियों में चरित्र के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें निश्चयपूर्वक ऐसी शक्ति अर्जित करनी चाहिए, कि जिससे इन प्रलोभनों का हम पर कोई असर न हो।

पद और प्रतिष्ठा के प्रलोभनों के सहारे ऐसे प्रहार कितनी कुशलता से किए जाते हैं, इसका एक उदाहरण मैं बताता हूँ। पिछले दिनों मैंने एक पत्रिका पढ़ी, जिसमें फ्रान्स की एक संस्था द्वारा हमारी प्रधानमंत्री

की बड़ी चतुराई से प्रशंसा की गई है। पत्रिका में उस संस्था द्वारा चण्डीगढ़ नगर की बहुत प्रशंसा की गई है। चण्डीगढ़ में पाण्डवों के काल का चण्डी का मंदिर है, इसलिए उसका नाम चण्डीगढ़ है। परन्तु पुराना चण्डीगढ़ अब नहीं है। सब-कुछ वहाँ नया बना है। इस नये चण्डीगढ़ के वास्तुशास्त्री की यदि फ्रान्सीसी संस्था ने तारीफ की है, तो कोई विशेष बात नहीं। परन्तु मैं जब सोचता हूँ तो मुझे लगता है, चण्डीगढ़ में प्रशंसा करने लायक कुछ भी नहीं। मुझे चण्डीगढ़ की रचना कभी अच्छी नहीं लगी। उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री और बाद में राजस्थान के राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द जैसे विद्वान ने अपने मुख्यमंत्रित्व काल में नगर-रचना करने वाले प्रान्तीय अधिकारियों से बात करते हुए कहा था कि आप लोग अपने प्रान्त के नगर अच्छे बनाना, परन्तु उत्तर प्रदेश में चण्डीगढ़ मत बनाना। उन्होंने कहा था कि मैं चण्डीगढ़ देखने गया। मुझे वह बहुत फैला-फैला हुआ मुर्दे के समान दिखाई दिया। इस कारण मुझे पसन्द नहीं आया। सम्पूर्णानन्द विविध शास्त्रों के अच्छे ज्ञाता रहे हैं। उनकी उक्ति में सच्चाई है।

अब इस फ्रान्सीसी पत्रिका में ऐसे चण्डीगढ़ की प्रशंसा होना केवल इसलिए तो समझा जा सकता था कि उसका वास्तुशास्त्री फ्रान्सीसी था, परन्तु उसने प्रशंसा करते समय उस समय के अपने देश के प्रधानमंत्री पं. नेहरू जी का भी प्रशंसात्मक उल्लेख किया है। साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला है कि ऐसे सुरुचिपूर्ण व्यक्तित्व वाले नेहरू जी की सुकन्या, आज भारत की प्रधानमंत्री हैं। इस प्रकार इंदिरा गांधी जी का भी बड़ा गौरव गान किया है। जब वह मैंने पढ़ा, तो मुझे लगा कि ये लोग राजनीति में बड़े मँजे हुए हैं। कोई भी बहाना बनाकर व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ने और अपना काम निकालने का यह तरीका है। मराठी में एक कहावत है- 'मधाचे बोट लावणे' याने शहद में उंगली डुबोकर दूसरे के मुँह पर लगा देना। ऐसा करने से सहज ही जीभ ललचाकर बाहर आएगी ही। मनुष्य की दुर्बलता का उपयोग करने की दृष्टि से यह चतुराई का प्रयोग है। मैं आशा करता हूँ कि अपने देश के उच्चपदस्थ बड़े-बड़े लोग और अपनी प्रधान-मंत्री जी भी इस प्रकार के प्रलोभन से भरी उनकी चतुराई को ठीक-ठीक समझ सकेंगे। कभी फिसलेंगे नहीं, और अपना स्वतंत्र अस्तित्व कायम रखेंगे।

इस प्रकार के प्रलोभन देने के प्रयोग विश्व भर में चल रहे हैं। बार-बार जब प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं, तो मनुष्य को वास्तविकता समझा पाना कठिन हो जाता है और वह जाल में फँसता है। इन प्रलोभनों को पहचानने की ओर उनसे टकराने की शक्ति तथा उन पर विजय प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय, बचपन से ही प्रत्येक व्यक्ति को सिखाने की आवश्यकता है। प्रलोभनों से पथभ्रष्टता और स्वार्थों से भ्रष्टाचार इन दोनों ही प्रकार की आपत्ति टाल सकने योग्य चारित्र्य का विकास होना जरूरी है।

यह विद्यालय सब प्रकार से उत्कर्षशील हो

प्रत्येक छात्र के मस्तिष्क में यह बात अच्छी तरह बैठा देनी होगी कि मैं अपने राष्ट्र की सेवा करूँगा। राष्ट्र में ज्ञान-विज्ञान की विविध धाराओं को पुष्ट करूँगा। आधुनिक जगत् में प्रगति के जो-जो मार्ग दिखाई दे रहे हैं, उन सबका गहरा अध्ययन कर आगे बढ़ूँगा। अपने स्वार्थ का लेशमात्र भी विचार नहीं करूँगा। प्रत्येक छात्र में ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि निर्माण करने के लिए ही इस विद्यालय की आवश्यकता है।

जब इस विद्यालय का शिलान्यास हुआ था, तब मैंने यही इच्छा व्यक्त की थी कि सम्पूर्ण विश्व को कर्मयोग-बुद्धियोग का पवित्र ज्ञान देने वाले भगवान श्रीकृष्ण की स्मृति में चलाया जा रहा यह विद्यालय, उनके द्वारा वर्णित सद्गुणों को स्थापित करने में प्रयत्नशील हो। आज २५ वर्ष के पश्चात् एक नये आवासीय विद्यालय का अवसर आया है। अनेक महानुभावों ने उदारता प्रकट की है। मैंने तो केवल पत्थर या ईंट रख देने का काम यहाँ किया है। समाज का एक प्रतिनिधि होने के नाते समाजरूपी भगवान् से मैं कामना करता हूँ कि राष्ट्रभक्ति, धर्म, संस्कृति आदि के श्रेष्ठ संस्कार सम्पूर्ण समाज में जागृत करने के लिए, यह विद्यालय सब प्रकार से उत्कर्षशील हो।

२. शिक्षा का केन्द्र बिन्दु शिक्षक

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शिक्षा का केन्द्र बिन्दु शिक्षक है। अतः यह उचित ही है कि हम इस संदर्भ में कुछ मूलभूत बिन्दुओं पर संक्षेप में विचार करें।

हमारी मौलिक अवधारणा

यहीं से प्रारम्भ करें कि आधुनिक संदर्भ में 'शिक्षा' का अर्थ-संकेत क्या है? यह मानव की अन्तर्निहित क्षमताओं का प्रकटीकरण है। सूचनाओं का मस्तिष्क में ढूँसना भर शिक्षा नहीं है। मानव-मस्तिष्क को कबाड़ी का गोदाम बनाना इसका लक्ष्य नहीं है। शिक्षा को सर्वत्र मानव में निहित विविध प्रतिभाओं तथा क्षमताओं की पहचान एवं प्रकटीकरण के आधार-स्तम्भ के रूप में ग्रहण किया गया है और इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम भी सामने आये हैं। कला और विज्ञान के विविध क्षेत्रों में महान उपलब्धियों से अलंकृत व्यक्ति तो अन्य अनेक देशों में भी विद्यमान हैं। परन्तु हम हिन्दू और भी आगे गए हैं। हमारे लिए शिक्षा का सार है, व्यक्ति के अंतःव्यक्तित्व का प्रकटीकरण। जीवन मनोविकारों का पुंज मात्र नहीं है। हमारी मान्यता है कि हमारे भीतर चरम सत्य विद्यमान है, उसी परम सत्य की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति हमारी शिक्षा प्रणाली का मूल उद्देश्य है। हमारे सन्तों तथा तपस्वियों ने उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में विस्तृत दिशा-निर्देश दिए हैं, जिन्हें कार्यान्वित करने में शिक्षक की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

ज्ञानकोश का उपयोग करें

शिक्षक का प्रथम कार्य 'यम व नियम' के दस सिद्धान्तों को विद्यार्थी के मन में बैठाना है। यह यम हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। पाँच नियम हैं - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश-प्रणिधान (ईश्वर के प्रति स्वकर्मारपण)। वास्तव में बाइबिल में वर्णित 'दस आदेश' भी इन पाँच नियमों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यदि कुछ विद्यार्थी ही इन यम-नियमों की भावना को आत्मसात् कर लें, तो वे अत्यन्त स्वस्थ वातावरण का निर्माण कर सकते हैं, जिसका अनुसरण कालान्तर में अन्य लोग भी करेंगे।

युवा हृदयों को, इन सिद्धान्तों की रोचक ढँग से जानकारी कराना आवश्यक है। जब मैं माध्यमिक विद्यालय का छात्र था, तो हमारे एक अध्यापक निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त हमें पुराणों की कथाएँ भी अत्यन्त रोचक तथा शिक्षाप्रद ढँग से सुनाते थे। मैंने अपनी माताजी से भी बहुत कुछ सीखा है। वे 'पढ़ी-लिखी' महिला नहीं थीं अतः, मैं अपना धार्मिक साहित्य यथा महाभारत, रामायण पढ़कर उन्हें सुनाया करता था और स्वाभाविक रूप से उससे स्वयं भी लाभान्वित होता था।

ऐसी ही कथाएँ सदियों से एक राष्ट्र के रूप में हमारी परम्पराओं तथा चरित्र का निर्माण करती रही हैं। वे शिक्षा का असीम भण्डार हैं। उदाहरणार्थ, जाबालि की एक कथा है। यह बालक हर परिस्थिति में सत्य पर डटा रहता था। जब उसने एक आचार्य से उसे अपना शिष्य बना लेने का निवेदन किया, तो उन्होंने उसका गोत्र जानना चाहा। बालक ने घर आकर अपनी माँ जाबाला से आचार्य के प्रश्न का उत्तर पूछा। माँ ने कहा, "सुनो, जब मैं एक व्यक्ति के घर में नौकरानी के रूप में कार्य कर रही थी, उसी समय तुम मेरे गर्भ में आये थे। अतः मुझे स्मरण नहीं कि तेरे पिता कौन थे ? अपने आचार्य को यही बात बता देना।" बालक वापस गया

और अपनी माता का उत्तर अक्षरशः अपने आचार्य को कह सुनाया। आचार्य ने कहा, “तुम शिक्षा ग्रहण करने योग्य हो, क्योंकि तुममें चरित्र की ऋजुता और सत्य बताने का साहस है।” इसके बाद ही वह बालक ‘सत्यकाम जाबालि’ कहलाने लगा।

विकृति की शुद्धि कीजिए

आज हममें से अधिकांश लोग ऐसे बहुमूल्य दृष्टान्तों और रूपकों के कोश का विस्मरण कर चुके हैं। हमारे अधिकांश नवयुवक यह भी नहीं जानते कि जीवन के सभी पहलुओं के उत्कृष्ट ज्ञान से समृद्ध हमारा कोई प्राचीन इतिहास भी है। आश्चर्य नहीं कि शिक्षा में सकारात्मक एवं स्वस्थ विषय-वस्तु के अभाव में हमारे विद्यार्थी अश्लील व असभ्य साहित्य पढ़ने में अपनी अभिरुचि बना लेते हैं। उनकी अध्ययन-प्रणाली उनमें सीखने की इच्छा व गहन प्रयास के अभाव को व्यक्त करती है। स्तरीय लेखकों की पाठ्य-पुस्तकों एवं संदर्भ-साहित्य के पठन-पाठन को विदाई दी गई है। सरल गाइड व कुंजियों का ही प्रचलन हो गया है। निजी अध्यापन (ट्यूशन) भी विद्यार्थियों के लिए सफलता का दूसरा सरल उपाय बन गया लगता है। वस्तुतः अच्छे शिक्षक ने इसे अपने सामर्थ्य व कर्तव्यनिष्ठा का अपमान समझना चाहिए, यदि उसके विद्यार्थी को दूसरों से ट्यूशन पढ़ने की जरूरत पड़े। इन सभी संक्षिप्त-मार्गों का दुष्प्रभाव यह हो रहा है कि विद्यार्थियों में समझने की पहल, इच्छा-शक्ति एवं क्षमता का निरन्तर दबाव हो रहा है। सामान्यतः यह भी देखा गया है कि ऐसी बातों को शिक्षक स्वयं ही प्रोत्साहित करते हैं। कतिपय शिक्षक तो विद्यार्थियों को ट्यूशन हेतु अपने पास आने के लिए धमकाते भी हैं। इससे छात्रों का उत्साह भी प्रभावित होता है। उनके मन में यह धारणा स्वतः उत्पन्न होगी कि अपने कर्तव्य को ईमानदारी से करने की आवश्यकता नहीं है और धनोपार्जन के अनुचित मार्ग खोजे जा सकते हैं। शेष सभी ‘संक्षिप्त-मार्गों’ के असफल होने पर ‘अनैतिक मार्ग’ द्वारा सफलता प्राप्त करने हेतु वह प्रवृत्त होता है।

पूरे मन से हिन्दू बनो

इन विकृतियों को उभरते ही समाप्त कर देना आवश्यक है। युवा-हृदयों के मन-मस्तिष्क में महान गुणों का बीजारोपण प्रारम्भिक विद्यार्थी जीवन से ही करना चाहिए। यह बीज हमारे पुरातन एवं अर्वाचीन साहित्य के असीम भण्डार से प्राप्त होगा, जिसमें हमारे उत्कृष्ट राष्ट्रीय आदर्शों, महान शक्ति-पुत्रों और ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रण रहता है। विशेष रूप से हमारे नवयुवकों में यह गौरवानुभूति होनी चाहिए कि वे ऋषि-मुनियों की महान परम्पराओं में जन्मे हैं। यदि हम उनकी विरासत के अनुरूप सिद्ध होना चाहते हैं, तो हमें हिन्दू बनकर रहना होगा, हिन्दू बन कर दिखाना होगा। जब हम स्वयं का, अपनी राष्ट्रीय परम्पराओं एवं प्रथाओं का सम्मान करेंगे, तभी हम विश्व से समुचित सम्मान प्राप्त करने की आशा कर सकेंगे।

अपने प्रति सच्चे बनें

एक बार एक फ्रांसीसी को मैंने अपने यहाँ भोजन पर आमंत्रित किया। उसने प्रसन्नतापूर्वक हमारे साथ जमीन पर बैठकर हाथ से भोजन किया, जहाँ न चम्मच था, न काँटा और न मेज। उसने कहा कि मुझे बहुत आनन्द की अनुभूति हुई और टिप्पणी की, “आपके पास आने पर हमें आपकी रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा व्यावहारिक विशेषताओं का अनुभव मिलना चाहिए, अन्यथा, इतनी दूर से आपके देश में आने का औचित्य ही क्या है?”

एक बार अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् ने एक प्रकल्प चलाया। उसके अन्तर्गत उत्तर-पूर्वांचल (नेफा) से कुछ विद्यार्थियों को शिक्षा प्राप्ति के लिए महाराष्ट्र के पुणे व अन्य स्थानों पर भेजा गया। योजना के अन्तर्गत उन्हें विभिन्न परिवारों के साथ रहना था, ताकि वे हमारी संस्कृति को आत्मसात् कर हमारी मातृभूमि व समाज

से भावात्मक सम्बन्ध बना सकें। जब इस प्रकल्प के संयोजक मुझे मिले, तो मैंने उन विद्यार्थियों को पश्चिम सभ्यता में डूबे हुए परिवारों में न ठहराने का परामर्श दिया। उनका निवास उन घरों में हो, जहाँ प्रातः सायं दोनों समय इष्ट देव के सम्मुख दीप जलाया जाता है, जहाँ हमारे पर्व व परम्पराएँ जीवन्त हैं और जहाँ वे हमारी सांस्कृतिक मर्यादा को आत्मसात् कर सकें। इन्हीं संस्कारों के द्वारा इस विशाल भूमि पर बसे हमारे वृहत् समाज ने सारी उथल-पुथल के बीच भी अपने राष्ट्रीय अस्तित्व की पहचान को कायम रखा है और स्वयं को एक अमर राष्ट्र के रूप में जीवित रखा है।

बहुत पहले १८७२ में 'ऐडिनबरा रिव्यू' ने लिखा था कि "हिन्दू पृथ्वी पर सबसे पुरातन राष्ट्र है और यह संस्कृति एवं परिष्कार में अतुलनीय रहा है।" परन्तु दुर्भाग्यवश ऐसी पुरातन व महान जाति के पुत्र विदेशी कुप्रचार के शिकार बन गये हैं और अपने पुरातन इतिहास व धरोहर को भूल बैठे हैं। कोई भी समाज अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने उज्ज्वल भविष्य के निर्माण की आशा नहीं कर सकता।

मुख्य अवरोध

दिल्ली प्रवास के दौरान एक बार श्री मोहम्मद करीम छागला से मेरी भेंट हुई। वे उस समय केन्द्रीय शिक्षा मंत्री थे। वे रूस के प्रवास से कुछ ही समय पूर्व लौटे थे। उन्होंने वहाँ के अनुभवों का वर्णन करते हुए बताया कि वहाँ के युवक जीवन के हर क्षेत्र में अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा से अनुप्राणित और अध्ययन के प्रति अति गम्भीर लगते थे। उन्होंने जिज्ञासा व श्रद्धा से मुझसे पूछा "अच्छा, मुझे यह समझ में नहीं आता कि हमारे युवकों में क्या कमी है? क्यों वे हड़ताल, अनुशासनहीनता और उपद्रवों में संलग्न हैं? परन्तु मुझे आभास होता है कि आपके संगठन में युवक अनुशासित एवं समर्पित हैं। तो क्या आप हमारे नवयुवकों की समस्या का कोई निदान प्रस्तुत कर सकते हैं?"

मैंने प्रति-प्रश्न किया, "आपका कथन ठीक है, किन्तु क्या आपने विद्यार्थियों के समक्ष कोई महान आदर्श प्रस्तुत किया है?" उन्होंने उत्तर दिया, "मुझे स्वीकार कर लेना चाहिए कि नहीं किया है।" मैंने उत्तर दिया, "प्रेरणास्पद उत्तम आदर्श के अभाव में हम छात्रों से यह अपेक्षा कैसे कर सकते हैं कि वे जीवन के मूल्यों के प्रति समर्पण तथा अनुशासन को आत्मसात् कर लें। यही ऐसा उच्चादर्शवाद है, जिससे प्रेरित होकर वे अपने उग्र आवेग को संयमित कर अपनी उफनती ऊर्जा को राष्ट्र निर्माण की रचनात्मक दिशा में मोड़ सकते हैं। इस राष्ट्रीय आदर्शवाद को हृदयंगम करने का कार्य विद्यालयों व महाविद्यालयों में हमारे सत्य इतिहास के पठन से प्रारम्भ होगा। हमें अपने बच्चों को सिखाना होगा कि वे जिस धरती पर जन्मे हैं, उसकी विरासत महान है और उनके पूर्वजों ने भौतिक व आध्यात्मिक उपलब्धियों के उच्चतम मानदण्ड स्थापित किये हैं। तभी उन्हें इनसे भी उच्चतर आदर्शों को प्राप्त करने के पुरजोर प्रयास-हेतु उत्साह से भरपूर किया जा सकेगा। किन्तु इसके विपरीत हम अपने विद्यालयों में बिल्कुल उल्टी शिक्षा दे रहे हैं। हमारे इतिहास के सबसे गौरवशाली काल को 'अन्धकार युग' कहा जाता है। दासता के कालखण्डों को महिमामन्वित किया जाता है, हमारे स्वतंत्रता सेनानियों के प्रेरक योगदान को नहीं। हमारे इतिहास का अधिकांश 'मुगल काल' और ब्रिटिश काल' है। यदि हमारे बच्चों को यही शिक्षा दी जाती है कि भूतकाल में हमारा कुछ महान नहीं था, हम सदैव पराजित राष्ट्र रहे हैं, केवल मुगलों व अंग्रेजों के आगमन के बाद हमारे राष्ट्र का विकास हुआ है अर्थात् हमारा अतीत किसी गर्व के योग्य नहीं है तथा हमारे पूर्वज किसी प्रतिस्पर्धा के योग्य नहीं थे तो क्या हम उनसे किसी सार्थक वस्तु की अपेक्षा कर सकते हैं?"

"हाँ, यदि आप हिन्दुओं के अतीतकालीन उपलब्धियों का, आक्रान्ताओं के विरुद्ध संघर्ष में उनके आत्म-बलिदान की उत्साह और वीरता का उल्लेख ओजस्वी रूप में करेंगे- फिर आक्रान्ता ग्रीक, मुस्लिम अथवा

अंग्रेज कोई भी हो तो आप तुरन्त 'साम्प्रदायिक' घोषित कर दिए जाएंगे। यही है असली अड़चन और समस्या का मूल मर्म।" श्री छागला एक क्षण शान्त रहे फिर उन्होंने स्वीकार किया कि "हाँ, ऐसा ही है।"

विपर्यय

इस आत्म-धक्कारमयी और मूर्ख बनाने वाली शिक्षा का परिणाम क्या है? कुछ वर्ष पूर्व कोई डॉ. चतुर्वेदी जर्मनी जाने वाले थे। उन्हें 'भारत-जर्मन परिषद्' ने आमन्त्रित किया था। जैसे ही वे यूरोपीय वेश में हवाई अड्डे पर उतरे, वहाँ के लोग दंग रह गये। परन्तु यह मानकर कि ठंड से सुरक्षा के लिए ऐसा किया गया होगा, उन्होंने अपने मन को सांत्वना दी। वे उन्हें विशेष रूप से सजाई गयी सड़कों से ले गये, जिसमें चारों ओर वेदों के नाम पर तोरणद्वार बने थे। वे एक 'चतुर्वेदी' थे, अतः उनके स्वागतकर्ताओं की कल्पना थी कि वे वेदों के अच्छे जानकार होंगे। शुद्ध संस्कृत में उनका स्वागत किया गया और इसके बाद एक और भाषण हुआ, वह भी संस्कृत में ही। 'विद्वान्' डॉ. चतुर्वेदी ने अंग्रेजी में उत्तर देते हुए जो कुछ बोला, उसका स्वागतभाषण से कोई लेना-देना नहीं था। स्पष्ट है कि वेद ज्ञान तो दूर, उन्हें संस्कृत का एक शब्द भी नहीं आता था। सारी पोल खुल चुकी थी। फलतः शिष्टाचार के विपरीत आगे के सभी कार्यक्रम रद्द करके उस 'महापण्डित' को अगली उड़ान द्वारा वापस जाने के लिए कहा गया।

इसके विपरीत देखिए कि हमारे महापुरुषों ने किस प्रकार का आचरण किया है। जब स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका के तट पर पदार्पण किया, तो सभी सहयोगी अपना सामान लेकर जाने की जल्दी में थे, परन्तु यह भगवा वस्त्रधारी संन्यासी शान्त व निश्चिंत होकर इस दृश्य का आनन्द ले रहा था। बन्दरगाह पर उपस्थित एक अमरीकी ने दौड़ते हुए पूछा- "आप कहाँ जाएंगे? आपका सामान कहाँ है? आपके पास कोई परिचय-पत्र है?" इत्यादि। स्वामी रामतीर्थ ने कहा- "मेरे पास न कोई सामान है, और न ही धन है, यहाँ तक कि परिचय पत्र भी नहीं है।" उस व्यक्ति ने अति विस्मय से पूछा, "तब आप विदेश में निर्वाह-व्यवस्था कैसे करेंगे? क्या यहाँ आपका कोई मित्र-परिचित नहीं है?" इस पर स्वामी ने कहा, "हाँ, एक है और वह तुम हो।" इस पर वह अमरीकी अत्यधिक भावुक हो गया, और सचमुच में उनका उत्कट मित्र व प्रशंसक बन गया। अमेरिका प्रवास में उसने स्वामी जी के लिए उत्कृष्ट व्यवस्था की।

आधार को न भूलें

प्रेम व बुद्धिमत्ता की ऐसी गहराई शैशव से ही आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करने पर हो सकती है। इसके लिए प्रारम्भिक पाठशाला स्तर से ही उपयुक्त वातावरण का निर्माण करना आवश्यक है। एक बार मैं नासिक के किसी विद्यालय में गया। वहाँ गलियारे की दीवार पर सैकड़ों चित्र लगे थे, परन्तु वे सभी यूरोप व अन्य देशों के चित्रण करने वाले थे। हमारे इतिहास या महाकाव्यों से सम्बन्धित एक भी चित्र नहीं था। मैंने प्रधानाध्यापक से पूछा "ये चित्र हमारी युवापीढ़ी में उचित भावना का संचार कैसे करेंगे? इनमें हल्दीघाटी व पानीपत इत्यादि के युद्ध-चित्र क्यों नहीं हैं?" उसने उत्तर दिया-हमारा दृष्टिकोण अपने देश की सीमाओं में ही बँधा तथा संकीर्ण नहीं होना चाहिए।" अन्तर्राष्ट्रीय और इसी प्रकार के अन्य नारे हमारे नवयुवकों के मानस पर सत्यानाशी प्रभाव डालेंगे।

राष्ट्रवाद के ठोस व सुदृढ़ आधार के बिना, मानवता एवं अन्तर्राष्ट्रीयवाद की बातें करना हमें किसी धर्म का नहीं रखेंगी। जहाँ तक हमारे राष्ट्रीय दर्शन व धरोहर का प्रश्न है, उसने सदैव अपनी परिधि में सारी मनुष्य जाति के सर्वोच्च कल्याण को अंगीकार किया है। इस प्रकार हमारे राष्ट्रवाद का उज्ज्वल रूप ही हमारे बच्चों को मानव कल्याण के उच्चतम मूल्यों से विमुख नहीं करेगा, प्रत्युत् इन मानव-मूल्यों को सुदृढ़ ही करेगा।

ये हैं कतिपय सामान्य दिशा संकेत, जिन्हें युवा हृदयों के शिक्षकों को ध्यान में रखना उपादेय रहेगा।

३. हम और हमारे विद्यार्थी

विद्यार्थियों को बाकी के समाज से पृथक वर्ग मानना ठीक प्रतीत नहीं होता है। सर्व सामान्य जनता के गुण-विशेष ही युवकों में प्रगट होते हैं। अपरिपक्व अवस्था, अनुभवहीनता तथा वयसुलभ भावावेश के फलस्वरूप उनके क्रिया-कलाप अदम्य उद्रेक के रूप में प्रकट होते हैं। आज के युवकों पर सद्वर्तन के कोई भी संस्कार नहीं किये जाते। उन्हें जीवन में एक प्रकार की अस्थिरता एवं असुरक्षितता दिखायी देती है। परिणाम यह हुआ है कि वे हताश हो गये हैं। जिसके लिए वे अपनी शक्तियाँ लगाएँ और यत्न करें, ऐसा न तो कोई ध्येय उनके सामने है और न जनता में तथाकथित नेताओं अथवा मार्गदर्शकों का कोई प्रेरणादायक आदर्श ही है। गृह नाम की संस्था आज पूरी तरह ढह गई है। ये कुछ कारण हैं, जिसके फलस्वरूप अशान्ति व उच्छृंखलता आदि बातें उत्पन्न होती हैं। इन्हीं को हम युवकों की अर्थात् विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता कहते हैं।

समाज की तीन विभाग-श्रेणियाँ

स्थूल रूप से अपने समाज के हम तीन विभाग पाते हैं -

(१) वे लोग जो पीढ़ियों से निर्धनता, अशिक्षा और निकृष्टतम बात याने सामाजिक विकलांगता से पिस गये हैं, इस श्रेणी में आते हैं। सौभाग्य से आज प्राथमिक स्तर तक सबको शिक्षा देने का भार शासन ने उठा लिया है। उसका लाभ इस श्रेणी के विद्यार्थियों को प्राप्त हो रहा है। इन विद्यार्थियों की सुप्त योग्यताएँ जागृत हों और उनमें सद्गुणों का संचार हो, इसलिये स्नेह तथा मनोयोग के साथ उनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि शैशवावस्था में उनका विकास यथायोग्य नहीं हुआ है। इस प्रकार यह कहना होगा कि उनकी पाटी कोरी है, परन्तु उस पर कुछ खरोंचे अवश्य लगी हैं, और वह स्वाभाविक भी है। जिनका पूर्व जीवन कष्टमय रहा है, जिन्हें ज्ञान के प्रकाश से वंचित रखा गया है, जिन्हें सम्पत्ति का आनन्द कभी मिला नहीं है, जिन्हें राष्ट्रोत्थान-कार्य में सहकारी के रूप में कभी लिया ही नहीं गया, उनके हृदयों पर कुछ घाव रहें, तो क्या आश्चर्य? ये लोग भी भविष्य की आशा हैं। अतः इनका संवर्धन विशेष चिन्ता और निष्ठा के साथ किया जाना आवश्यक है।

(२) दूसरे, सर्वसाधारण परिस्थिति में जीवन व्यतीत करने वाले लोग हैं। जन-जीवन के विविध क्षेत्रों में इन्होंने सदैव रीढ़ की हड्डी जैसा काम किया है। इनमें अपने आपको सुप्रतिष्ठित दिखाने की एक जन्मजात विचित्र इच्छा रहती है। उसका परिणाम यह होता है कि वे अपनी आय से कहीं अधिक व्यय करते हैं। वर्तमान आर्थिक परिस्थिति ने उनके जीवन पर करारी चोट पहुँचाई है। अतः इनके जीवन से मानसिक शान्ति एवं पारिवारिक शान्ति दोनों बातें उठ गई हैं। उन्हें अपने लिये तथा अपनी सन्तानों के लिये भविष्य में निराशा दिखाई पड़ती है। यह परिस्थिति सब प्रकार की विकृतियाँ उत्पन्न कर सकती है। आज के हमारे विद्यार्थियों में अधिकांश युवक इसी श्रेणी के हैं। मूलतः इनकी मनोरचना अच्छी है, परन्तु आशा न रहने के कारण, निराशामय परिस्थिति में इनकी भी वृत्ति बिगड़ी है, निराशा के उन्माद में आज का यह युवक किसी भी अनुत्तरदायी कार्य की ओर आकृष्ट हो सकता है।

(३) समृद्धि और सम्मान, दोनों का उपभोग जिन्हें प्राप्त है, ऐसे लोग तीसरी श्रेणी में आते हैं। इनके पास धन का आधिक्य है, इन्हें बड़े-बड़े पद प्राप्त हैं और तदानुषांगिक अधिकार भी प्राप्त हैं। इस संयोग से तो किसी का भी दिमाग बिगड़ सकता है, फिर यदि नवयुवकों का बिगड़ जाए, तो क्या आश्चर्य? युवक

अपरिपक्व तो रहते ही हैं। न उनके पास पर्याप्त ज्ञान रहता है और न गाँठ में कुछ अनुभव। सारांश में, विवेक करने की उनकी शक्ति अति प्रारम्भिक अवस्था में रहती है। यह परिस्थिति युवकों के नैतिक जीवन की धज्जियाँ उड़ा सकती है। जैसा कि एक संस्कृत श्लोक में समुचित रूप से कहा गया है -

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता ।।

एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ।।

यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व तथा अविवेक ये अकेले ही अनर्थ कर देने वाले हैं; फिर जहाँ ये चारों हो जायें, वहाँ के अनर्थ का तो कहना ही क्या?

विद्यार्थी अवस्था में सादगी व संयम-नियमपूर्वक रहने, मन को व्यसनों और दुर्गुणों की ओर जाने का अवसर न देने आदि की सतर्कता यदि हम रखते हैं तो युवक अवांछनीय कार्यों एवं अवांछनीय व्यवहार से दूर रह सकते हैं।

अधिक महत्त्व के प्रश्न

अपने इस विशाल युवक समुदाय को महान समाज-रचना में योग्य एवं गुणवान नागरिक किस प्रकार बनाया जाए, यही आज की वास्तविक समस्या है। इस समस्या का हल केवल सतही विचार करने से अथवा ऊपर-ऊपर मरहम-पट्टी करने से नहीं निकलेगा। इन थोथी बातों का कोई भी टोस परिणाम नहीं निकलेगा। उदाहरणार्थ, प्रस्तुत प्रश्न-मालिका में, शैक्षणिक संस्थाएँ, शिक्षक-विद्यार्थी अनुपात, उनका परस्पर सम्बन्ध, छात्रावास-व्यवस्था आदि विषयों पर प्रश्न पूछे गये हैं। ये सब बातें समस्या की जड़ तक नहीं पहुँचती! संस्थाएँ कैसे चलाई जाती हैं, इसकी अपेक्षा ये प्रश्न अधिक महत्त्व के हैं कि शिक्षा का ध्येय एवम् आशय क्या है? गुणवत्ता की दृष्टि से अध्यापकों तथा वसतिगृह (हॉस्टल) प्रमुखों का स्तर और गुणवत्ता क्या है? देश-भर में इन सबके आसपास कौन सा वातावरण है? उनका विचार हमें दक्षतापूर्वक करना चाहिये।

वर्तमान शिक्षा केवल सूचनात्मक है

हमारी वर्तमान शिक्षा केवल वृत्तात्मक (इन्फॉरमेटिव) है; संस्कारात्मक (फॉरमेटिव) नहीं। उसका जोर इसी पर है कि देश का युवक किसी प्रकार डिग्री प्राप्त कर ले। हमारे युवकों का व्यक्तित्व उभर आए - इस ओर उसका ध्यान नहीं है। आज जीवनस्तर सुधारने की बातें कही जाती हैं। उनका सम्बन्ध केवल जड़ वस्तुओं से है। आवश्यकताओं को बढ़ाना, माँगों को पूर्ण करना, निम्नस्तरीय दुष्ट वासनाओं की पूर्ति करते हुए मनुष्यान्तर्गत पशु को पुष्ट करना - यही उस जीवनस्तर सुधार का अर्थ है। मनुष्य का मानसिक, बौद्धिक एवम् आध्यात्मिक विकास करने से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सब बातों का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आज मनुष्य भले-बुरे तरीकों से पैसा जुटाने में लगा हुआ है। धन-प्राप्ति और उपभोग, यही मानो जीवन का लक्ष्य बन गया है। 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' संज्ञा का अर्थ नाचना, गाना और मनुष्य की निम्न भावनाओं को उत्तेजित करना ही माना जाता है। 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' का वास्तविक महत्त्व तो मनुष्य में बौद्धिक, भावनात्मक जगत् के उच्च गुणों को, जीवन-मूल्यों को अनुप्राणित करने तथा भावनाओं व प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने में है। ये सब बातें आज पूर्णतः दुर्लक्षित हैं। वे या तो अनावश्यक मानी जाती हैं या अनुचित।

मनुष्य निर्माण

इस विषय का अधिक विस्तार न करते हुए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आज की शिक्षा-प्रणाली में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक विद्यार्थी को धर्म के आधारभूत तत्त्व अवश्यमेव पढ़ाए जाने चाहिए। जिन्होंने उन उच्च तत्त्वों को अपने आचरण में उतारा है और दिग्दर्शित किया है, ऐसे अपने महान पूर्वजों के

जीवन-चरित्र उन्हें पढ़ाए जाने चाहिए। उन्हें अपना विशुद्ध एवं सत्य इतिहास पढ़ाना चाहिये तथा अपनी राष्ट्रीय विरासत के भव्यतम पहलुओं को उनके सम्मुख रखना चाहिए। प्राथमिक यौगिक क्रियाओं के द्वारा उन्हें मनःसंयम का शास्त्र अवश्य सिखाना चाहिये। शिक्षा का शेष भाग परिस्थिति दैनिक जीवन के तथ्य, व्यक्तिमात्र की अभिरुचि आदि बातों पर निर्भर रहना चाहिए। वह जीवन की सब परीक्षाएँ उत्तीर्ण हो सके और सब संकटों से जूझ सके - ऐसा पाथेय बिल्कुल प्रारम्भ से ही हमें उसके लिये जुटाना चाहिए। किसी भी विषय के सम्बन्ध में क्यों न हो, कर्तव्यभावना पर जोर रहना चाहिए। उत्कृष्ट कर्तव्यदक्षता सर्वोपरि महत्त्व की बात है। परन्तु, हो सकता है कि आजकल के स्वार्थपोषक वातावरण में वह अव्यवहार्य दिखाई दे।

ध्येयोन्मुख शिक्षा-प्रणाली

उसके लिये एक ही उपाय है। विद्यार्थियों की ग्रहणशील आयु में, उनके मन पर सतत् संस्कारों से यह सत्य अंकित कर देना चाहिए कि कर्तव्य सर्वोपरि है और सब अधिकार - चाहे व्यक्ति के हों, चाहे समूह के - कर्तव्यसापेक्ष हैं और कर्तव्यकी तुलना में गौण हैं। विद्यार्थियों में समुचित कर्तव्य-भावना जागृत करने के लिये हमारी शिक्षा-प्रणाली ध्येयोन्मुख होनी चाहिए। 'ध्येय' शब्द को लेकर मार्ग-भिन्नता अपनाई जा सकती है तथा उसके परस्पर विरोधी अर्थ भी लगाए जा सकते हैं। फिर भी, कुछ व्यापक मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में सबका एकमत होगा, ऐसी मुझे आशा है। मनुष्य प्राणी अन्तिम परम सत्य के पथ का एक पथिक है। उस सत्य को निःस्वार्थ व भक्तिपूर्ण सेवा से प्राप्त किया जा सकता है। मानवता की सेवा से ही हम सत्य की सेवा कर सकते हैं। मानवता की सेवा का प्रारम्भ अपने समाज की सेवा से होना चाहिये। समान पूर्वज, विरासत, परम्परा व राष्ट्रीय अस्मिता से किसी भी समाज में एकरूपता निर्माण होती है। हम सबका जिसने सांगोपन किया है और जिसकी भक्ति के साधारण गुण ने हमें एक राष्ट्रपुरुष के अंगभूत रूप में सुबद्ध किया है, अपनी इस पवित्र मातृ-भूमि के विषय में हमारी मूलभूत कल्पनाएँ हैं। यह हमारी आधारभूत दृष्टि है। यदि हम इस एक ध्येय के प्रति तीव्र त्याग-भावना का दृढ़ आधार निर्माण करते हैं, तो सम्पूर्ण समाज की आकाँक्षा, भावना और बुद्धि में सामंजस्य प्रस्थापित होगा। जब इस सामूहिक इच्छा-आकाँक्षा के साथ सामुदायिक और नियन्त्रित शारीरिक बल का संयोग होगा, तो वही बात निर्माण होगी जिसे लोग 'अनुशासन' कहते हैं। सैनिक शिक्षा के द्वारा केवल शारीरिक स्तर पर कृति-सामंजस्य उत्पन्न हो सकता है - इस दृष्टि से जब तक उसकी ओर देखा जाता है, तब तक वह ठीक है और शिक्षा के लिये इस सीमा तक वह पूरक भी सिद्ध होती है। संस्कारक्षम शालेय जीवन से महाविद्यालय की शिक्षा पाने तक विद्यार्थियों को यथाक्रम उच्च सैनिक शिक्षा दी जानी चाहिए। अर्थात् यह शिक्षा सशस्त्र सैनिकों के स्तर जैसी ऊँची न हो। परन्तु केवल सैनिक शिक्षा के भरोसे अनुशासन का वास्तविक भाव नहीं भरा जा सकता। वह तो सार्वजनिक महान ध्येय के प्रति भक्ति से निर्मित इच्छानुशासन अंकित करने के लिये किये गए विशेष प्रयत्नों से ही भरा जा सकता है।

योग्य वातावरण

शैक्षणिक संस्थाओं को तथा वसतिगृहों (छात्रावासों) को दी गई सब सुविधाएँ इसी एक लक्ष्य हेतु कार्यान्वित होनी चाहिए। आज इन सुविधाओं का उपयोग केवल मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद के लिए किया जा रहा है। विद्यार्थी-जीवन में इनका भी एक स्थान अवश्य है, परन्तु पूरे वातावरण में ज्ञान-लालसा का संचार होना चाहिये। ज्ञान के क्षेत्र में कुछ न कुछ विशेष मुझे करना है, देना है, ऐसी तीव्र इच्छा विद्यार्थियों के मन में सदैव रहनी चाहिये। अपनी ध्येय-सेवा में मुझे सुनिश्चित स्थान प्राप्त करना है, ऐसी आकाँक्षा सबके मन में होनी चाहिये। इसके लिये व्याख्यान, परिसंवाद, वादिविवाद, खेल-व्यायाम, चित्रादि कलाप्रदर्शन, वन-विहार, पर्यटन, जीवनोपयोगी परिश्रम, प्रत्यक्ष जीवन के विविध व्यवसायों के लिये उपयोगी शारीरिक परिश्रम, दीन-दुखियों की सेवा की गतिविधियाँ निर्धारित पाठ्यक्रम के अतिरिक्त प्रारंभ की जा सकती हैं।

मार्गदर्शक शिक्षक

इसके लिये शिक्षकों को तथा वसतिगृह (हॉस्टल वार्डेन्स) को सतत् मार्गदर्शन करना होगा। अतः शिक्षकों में भी विशेष पात्रता की आवश्यकता रहेगी। सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि पढ़ाने के विषयों का उन्हें उत्तम ज्ञान रहना चाहिये। फिर उनका चरित्र निष्कलंक चाहिये। विद्यार्थियों के साथ प्रेमपूर्ण तथा आत्मीयता का व्यवहार करने का उनका सहज स्वभाव होना चाहिये। यदि शिक्षकों के मन पर पैसा कमाने का भूत सवार हो गया है, अपने परिवार के सदस्यों को दो जून रोटी मिलती रहे इसके लिये यदि उन्हें इधर-उधर के पूरक-उद्योग करने पड़ते हैं, उस ढंग से यदि वे अपनी दृश्यमान सामाजिक प्रतिष्ठा किसी न किसी प्रकार सम्भालते हैं, उन्हें यदि बहुत सारा काम दे दिया गया है और विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या यदि उन्हें सम्भालनी पड़ती है, तब उन शिक्षकों का सुयोग्य स्तर रहने की अपेक्षा करना व्यर्थ है। हमें शिक्षकों की आर्थिक स्थिति सुधारनी चाहिये तथा उनकी कक्षा के विद्यार्थियों की संख्या भी सीमित करनी चाहिये।

हमारा यह अनुभव है कि एक व्यक्ति सोलह से लेकर चौबीस पाल्यों (वार्डों) की देखभाल सहज रूप में और उत्कृष्ट रीति से कर सकता है। वांछित फल प्राप्त करने के लिये हमें प्रमाण प्रस्थापित करना होगा। वसतिगृह (हॉस्टल वार्डेन्स) प्रमुखों के लिये भी यही बात सत्य है।

माता-पिता का कर्तव्य

यांत्रिक उद्योगों के विकास के साथ-साथ आज के जन-जीवन में आर्थिक बोझ और खींचतानी बढ़ गई है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमारी प्राचीन 'गृह' संस्था उध्वस्त हो गई है। अपने पाल्यों की ओर ध्यान देने के लिये माता-पिताओं को तथा पालकों को बहुत कम समय मिलता है। उनसे अधिक अपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु यदि वे अपने धर्म का पालन करते और स्वयं को सद्गुणों से युक्त बनाते हैं, यदि वे सद्गुणों से परिपूर्ण धार्मिक जीवन का अवलम्बन करते हैं, यदि वे अपने परम्परा से प्राप्त कुलधर्म-कुलाचारों को यथोचित प्रकार से करते हैं, सम्पूर्ण नहीं तो कम से कम उनको अत्यावश्यक कार्यों में सहभागी होने के लिये आह्वान करते हैं तथा उन्हें उन सब बातों का अभ्यास कराते हैं तो युवकों में सद्वर्तन एवं अनुशासन संचारित करने के लिये इसका पर्याप्त प्रभाव पड़ सकता है। अड़ोसी-पड़ोसी अथवा आसपास के अन्य व्यक्ति भी यदि अपने व्यक्तिगत व्यवहार का स्तर अच्छा रखते हैं, तो वे भी इस दिशा में सहायक हो सकते हैं।

बच्चों का सीखना अनुकरण से होता है। शिक्षक, वसतिगृह प्रमुख, माता-पिता, पड़ोसी- इन सबके जीवन का बच्चों के संस्कारक्षम मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अतः इन लोगों को यह बात समझनी चाहिये और तदनुसार अपने जीवन को ढालना चाहिये।

विद्यार्थी संगठन राजनीतिक दलों से मुक्त हों

देश के सर्वसामान्य वायुमण्डल का भी हमें इस सन्दर्भ में विचार करना होगा। आज का वातावरण जीवन के आर्थिक एवं राजनैतिक पहलुओं को अत्यधिक महत्त्व देने से कलुषित हो गया है। इन क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों को, समाज के नेता और आदर्श के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। क्वचित् कुछ अपवादों को यदि हम छोड़ दें, तो इन लोगों का चरित्र और व्यवहार बड़ा अनुकरणीय रहता है, ऐसा कहना कठिन होगा। आए दिन इन लोगों द्वारा लोगों को उकसाना-भड़काना चलता रहता है। आन्दोलन चलते रहते हैं। जनता की भावनाएँ, जो बहुधा दुर्भावनाएँ ही रहती हैं, उत्तेजित की जाती हैं। फिर, जो नेता आदर्श के रूप में सामने आते हैं, उनकी नैतिक क्षमता कोई खास प्रशंसनीय नहीं रहा करती। आन्दोलनों में भावनाओं को ही उभारा जाता है। युवकों का मन कोमल तथा भावना-प्रधान रहता है। साथ-साथ उनमें बहुत अधिक उत्साह रहता है। ऐसी

परिस्थिति में वे इन आन्दोलनों से निर्लिप्त रहेंगे और उन पर उनका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ेगा - ऐसी अपेक्षा करना अस्वाभाविक होगा।

आन्दोलन के पुरस्कर्ताओं की तो यही इच्छा रहती है कि आन्दोलनों में भाग लेने वालों की संख्या बढ़े और आन्दोलन जोर पकड़े। फिर इस चंचलमना तरुण-शक्ति को अपने काम में लाने का मोह उन्हें होता ही है। हम यह देखेंगे कि अधिकांश विद्यार्थी-संगठन किसी न किसी राजनीति पक्ष के या तो आश्रित हैं, या उनके मार्गदर्शन में चलते हैं, क्योंकि इन संगठनों के द्वारा राजनैतिक आन्दोलनकर्ताओं की मुट्टी में सदा के लिये एक आज्ञाकारी शक्ति बनी रहती है। यह वस्तुस्थिति अवश्यमेव बदलनी चाहिये। उच्च कक्षाओं में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी राजनीति और राजनैतिक पक्षों का निष्पक्ष भाव से और शास्त्रीय दृष्टि से भले ही अभ्यास करें, परन्तु उन्हें चाहिये कि विद्यार्थी-संगठन के कार्य में किसी राजनैतिक पक्ष को या नेता को वे हस्तक्षेप न करने दें।

संगठित युवा-शक्ति को स्वस्थ कामों में लगाएँ

अतः, यह आवश्यक है कि विद्यार्थी-संगठनों का अन्य राजनैतिक या आन्दोलनकारी पक्षों से पूर्ण विच्छेद कर देना चाहिये और उनकी शक्तियों को ज्ञान-संवर्धन, सेवाभावी, श्रमप्रतिष्ठा बढ़ाने वाले, बन्धुभाव एवं सामूहिक जीवन निर्माण करने वाले स्वस्थ कार्यों में लगा देना चाहिये। विद्यार्थी संगठन बन्द कर देना, यह समस्या का कोई उपाय नहीं है। विद्यार्थी-संगठनों को बढ़ावा देना, विशेषतः महाविद्यालय के स्तर पर, अत्यावश्यक है। शालेय अवस्था में विद्यार्थी बहुत अपरिपक्व रहते हैं। न वे विद्यार्थी-संगठन का अर्थ समझ सकते हैं और न वे उनको चला ही सकते हैं। महाविद्यालय में संगठनों का कार्य एक और बात के लिये भी आवश्यक है। इन संगठनों के कार्य के द्वारा तरुणों में विद्यमान अतिरिक्त शक्ति को समुचित दिशा प्राप्त होती है। उनके कार्य को किन लाभकारी मार्गों से ले जाना चाहिये, इसका निर्देश पाठ्यक्रमेतर (एक्स्ट्रा केरिकुलर) गतिविधियों के विषय में ऊपर की गई चर्चा में आ गया है।

पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका

समाचार-पत्र तो जन-जीवन का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। समाज की सब बुराइयाँ समाचार पत्रों में शीघ्र ही प्रकट होती हैं। आज हम राजनीति को तथा भौतिकवाद को बहुत महत्त्व देते हैं। इन बातों ने हमारी सब शक्तियों को ग्रस लिया है। अर्थात् इसी का बढ़ा-चढ़ा प्रतिबिम्ब हम समाचार पत्रों में पाते हैं। हमारे समाचार पत्र खलबली मचाने तथा पाप एवं अपराध-कथाओं की जुगाली करते रहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इस वृत्ति में आमूलाग्र परिवर्तन आवश्यक है। राजनैतिक तथा आर्थिक पहलुओं को तथा उन क्षेत्रों में कार्य करने वाले व्यक्तियों को अत्यधिक महत्त्व देने एवं उन्हें आदर्श पुरुषों के रूप में चित्रित करने की अपेक्षा यदि परमेश्वर की तथा मानवता की सेवा करने वाले व्यक्तियों को अधिक महत्त्व देते हैं, तो पत्रकारों द्वारा देश की महान सेवा होगी। इन ईश्वर - भक्तों के पास या मानवता के सेवकों के पास कदाचित् चमक-दमक नहीं होगी, परन्तु उनके जीवन निष्कलंक और शुद्ध रहते हैं। वे निःस्वार्थ भाव से अथक क्रियाशील रहते हैं। उनका अनुकरण होना चाहिये। उनका अनुयायित्व बढ़ना चाहिये। मुझे ऐसा लगता है कि मासिक और अन्य नियतकालिक पत्रिकाएँ इस कार्य को भली-भाँति कर सकेंगी। दैनिक समाचार पत्रों के लिये यह संभव नहीं दिखता।

दृश्य-श्रव्य साधन

आज शिक्षा के क्षेत्र में दृश्य-श्रव्य साधनों का बड़ा बोल-बाला है। वह ठीक भी है। पढ़ाने में और चरित्र-गठन में इन साधनों से बड़ी सहायता होती है। परन्तु आज इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग हो रहा है। समाचारपत्रों में, दीवारों पर, घरों पर जहाँ भी दृष्टि पड़ जाये, विज्ञापन ही दिखाई देते हैं। रेडियो, ध्वनिवर्धक

यन्त्र तथा ट्रांजिस्टरोँ से भद्रे नगमें कानों पर आधात करते रहते हैं। हमेशा कोलाहल मचा रहता है। आँखों तथा कानों को पग-पग क्रमशः उत्तेजक चित्रों एवं गीतों का सामना करना पड़ता है। युवकों का नैतिक मानस इन बातों से कितना कुरेदा जाता है, इसकी सहज कल्पना हम कर सकते हैं।

नीति-निरपेक्षता भयानक

परन्तु प्रगति के नाम पर सब चल रहा है। न कोई रोकता है, न टोकता है। भौतिक, राजनैतिक एवं वैषयिक बातों को अत्यधिक महत्त्व देने की इस रुचि का परिणाम यह हुआ है कि सब प्रकार के नैतिक तथा सात्विक मूल्य लुप्त होते जा रहे हैं। आज का नेतृत्व, उसका बनाया हुआ वातावरण और पाशवी क्षुधा की पूर्ति ही आधुनिकता, पुरोगामिता एवं प्रगति का सार-सर्वस्व है - इस प्रकार की मिथ्या धारणा ने समाज को, विशेषतः नवयुवकों को, नीति-निरपेक्ष बनने हेतु प्रोत्साहित किया है।

नैतिकता निःसंदेह अच्छी है और अनैतिकता निःसंशय बुरी होते हुये भी अनैतिकता में एक अच्छाई यह है कि अनीति के कारण नीति-मूल्य ध्यान में आते हैं, - कम से कम इसका अनुभव होता है कि हम नीति से फिसल रहे हैं। परन्तु नीति-निरपेक्षता निश्चित रूप से एक भयानक संकट है। क्योंकि उसमें नीति और अनीति दोनों के विषय में एक निर्मम उदासीनता बनी रहती है। जो अनीतिमान या पापी है, वह कभी न कभी अपने जीवन का नया पृष्ठ पलट सकता है। परन्तु नीति-निरपेक्ष व्यक्ति अच्छे-बुरे की समस्त अवधारणाओं को खूँटी पर टाँग देता है। अतः उसके रोग का मानो उपाय ही नहीं हो सकता। ऐसे लोग समाज-सुधार की दृष्टि से अत्यन्त भयानक हुआ करते हैं।

विचार करने की मौलिक दृष्टि

अपनी विचार करने की पद्धति हमें सुधारनी होगी। हमें जीवन के मूलभूत तत्त्व प्रस्थापित करने होंगे। व्यक्ति तथा राष्ट्र के जीवन को परिपूर्ण करने वाले मूल्यों को हमें स्वीकारना होगा। यही समय की माँग है। इसके अभाव में ही विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता के साथ, हमारे अन्य सामाजिक दोषों की जड़ें समाई हुई हैं। विद्यार्थियों की इस अनुशासनहीनता की समस्या को उसके व्यापक सम्बन्धों से पृथक मानकर उसका उपाय करने के लिये दौड़ने से हमें किसी भी प्रकार का लाभ होने वाला नहीं है। इस सुधार को यदि हम तत्काल और गम्भीरता के साथ हाथ में नहीं लेते हैं, तो अन्य सतही उपाय दिखावा मात्र रह जाएंगे; उनसे कोई भी परिणाम निकलने वाला नहीं है।

४. माता बालक की प्रथम गुरु

समाज की खिलती पीढ़ी के पालन-पोषण का विशेष दायित्व हमारी माताओं पर है। पालन-पोषण का वास्तविक अभिप्राय क्या है? क्या बच्चों को खिलाना-पिलाना और विद्यालय भेजना मात्र उनका दायित्व है? इसके विपरीत इसका अनिवार्य पहलू है, उनमें ठीक संस्कार अंकित करना, यथा-कर्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगत उद्यम की भावना, मातृभूमि के प्रति प्रेम और समाज के लिये तत्परता। हमारी माताओं को चरित्र-निर्माण के इस पहलू की चिन्ता करना अपना प्रथम दायित्व मानना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु, बच्चों के मनःपटल पर सहज प्रभाव छोड़ने वाली छोटी-छोटी बातों के प्रति सतर्कता आवश्यक है।

पहली किरण का प्रभाव

जब मुझे अपना बचपन याद आता है, तो मैं अनेक सुकोमल व मधुर स्मृतियों में खो जाता हूँ। प्रातः उठते ही मुझे घरेलू कामकाज में संलग्न अपनी माँ के मुख से हरिनाम तथा स्तोत्रों की मधुर सुरलहरी श्रवण-गोचर होती थी। उन नीरव एवं प्रशान्त प्रभातों में गूँजने वाले मधुर स्वरों का मेरे युवा मन पर कितना गहरा एवं पवित्र प्रभाव पड़ा होगा। इसके विपरीत आज के तथाकथित आधुनिक घरों के वातावरण में माताएँ न तो बच्चों को जल्दी उठाती हैं और न ही प्रेरणादायी गीत गाती हैं। सामान्यतः बच्चे फिल्मी गीत सुनते हुए सोते तथा इनकी धुन ही गुनगुनाते उठते हैं। मैंने एक सुशिक्षित युवा गृहणी को रसोई-घर में काम करते समय तथा पालना झुला कर बच्चे को सुलाते समय निम्नस्तरीय फिल्मी गीत गाते सुना है। अपने माता-पिता का ऐसा व्यवहार देखकर बच्चे निश्चित ही उसका अनुशरण करेंगे। और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अभाव में पले बच्चे ईसाई प्रचार की ओर सरलता से आकर्षित हो जाते हैं। आठ-नौ वर्ष का एक बालक विद्यालय अवकाश के दिनों में अपने घर आया। जन्माष्टमी पर व्रत रखने के लिये कहे जाने पर उसने माता-पिता से पूछा, “आप ऐसे व्यभिचारी का जन्म-दिन क्यों मनाते हैं? हम ईशा का जन्मदिन क्यों न मनाएँ?” क्या आप यह कल्पना कर सकते हैं, कि आठ-नौ वर्ष का बालक अपने माता-पिता से ऐसे बेहूदे प्रश्न कर सकता है? अतः हमारी माताओं को, बच्चों को प्रातः काल ही जगाकर उसे कुल देवता को नमन तथा बड़ों को अभिवादन करना सिखाना ही होगा। हिन्दू बालक-बालिकाओं में देवभक्ति, देशभक्ति व मातृभक्ति का भाव भरने का यह पवित्र दायित्व हमारी माताओं पर ही है।

वेश-भूषा के संस्कार

वेशभूषा भी संस्कारक्षम होती है। वेश व साज-सज्जा भी कोमल मन पर अपना प्रभाव छोड़ते हैं। माताएँ इस बात का ध्यान रखें कि बच्चे इन माध्यमों से भी अपनी संस्कृति की विशेषताएँ आत्मसात् करें। मुझे फिर अपने बचपन का स्मरण आता है। मेरे बाल्यकाल में मेरे बाल लम्बे, घने व घुँघराले थे, मेरी माँ उन्हें बाँधकर उनमें मोर पंख इस प्रकार लगाती थी कि मैं बालकृष्ण जैसा दीखने लगता था। वह मेरे गले में पुष्पहार डालकर सबको बताती थी, “देखो, मेरा मधु एकदम बाल कृष्ण जैसा लगता है।” ऐसी बातें यद्यपि छोटी दिखती हैं तथापि इन्हीं से बाल मन अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुरूप ढलता है। ऐसे मन पर मातृभूमि के प्रति उत्कट समर्पण और हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का अनुकरण भी आसानी से हो सकता है। इसके विपरीत यदि बालक को पाश्चात्य वातावरण में पाला जाए, तो उसपर वैसा ही प्रभाव होगा।

कभी-कभी लोगों को यह आभास भी नहीं होता कि परिधान भी मस्तिष्क पर कितना निर्णायक प्रभाव डाल सकते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के समय की एक रोचक घटना है। तत्कालीन शासक अंग्रेज सरकार ने एक

आपातकालीन अध्यादेश जारी करके सेवानिवृत्त सैनिकों को तुरन्त सेना में आने का आदेश दिया। एक सैनिक की इच्छा सेना में पुनः जाने की नहीं थी, अतः वह गाँव में ही रह गया। जब पुलिस तलाशी वारंट लेकर गाँव में आई तो वह महिलाओं के वस्त्र पहनकर घर में छिप गया। उसकी पत्नी ने पुलिस को बताया कि वह घर में नहीं है और केवल उसकी बहन ही उसके साथ है। परन्तु पुलिस को संदेह हो गया। उसने 'बहन' को पुकारा। सत्य सामने आ गया और वे उसे पकड़ कर ले गये। उसी अपनी पुरानी टुकड़ी की ओर भेज दिया गया। वहाँ वह सैनिक वेश में तैयार हो गया, तब उससे पूछा गया, "क्या वह अपने घर लौटना चाहता है?" उसने कड़क कर कहा कि "अब वह एक सैनिक है, अतः घर वापस जाने का प्रश्न ही नहीं, अब केवल युद्धस्थल पर ही जायेगा।" निस्सन्देह यह परिवर्तन वेश-भूषा के कारण ही हो सका।

आधुनिकता को बोझ

अब परिवार, परम्परा, श्रद्धा व आचरण को लें। हमारे व्यक्तिगत इष्टदेव व कुलदेव कोई भी क्यों न हों, उनकी पूजा-अर्चना बड़ी श्रद्धा-भक्ति से करनी चाहिए तथा अपनी कुलपरम्पराओं को पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रदीप्त रखना चाहिए। परन्तु आज कल इन परम्पराओं को विलुप्त होते देखकर कितना कष्ट होता है। दक्षिण में कम से कम घर के सामने तुलसी-वृन्दावन अवश्य होता है, हमारी माताएँ सूर्यास्त होते ही उसके समक्ष दीप प्रज्वलित कर देती हैं। वहाँ सामान्यतः पूजा-गृहों की घण्टियों एवं आरतियों का मधुर स्वर गूँजता सुनाई देता है। परन्तु उत्तर भारत में इस दृश्य के लिये आँखें तरस जाती हैं। आधुनिकतावाद हमारे अनेक जीवन-मूल्यों को उदरस्थ करता जा रहा है। 'ज्ञानेश्वरी' की काव्य-पंक्तियाँ कहती हैं -

“निज सुकार्य को धर्मनिष्ठ करता विनम्रता मण्डित।

उसी तरह पावन नारी रखती तन वस्त्रवेष्टित।”

यह सती नारी का चित्रण है, परन्तु आधुनिक स्त्री अपने तन को सब की दृष्टि के सम्मुख उघाड़ने में ही आधुनिकता समझती है। कैसा पतन! ऐसा प्रतीत होता है, मानो हमारे देश में आधुनिकता का अर्थ पश्चिम के अन्धानुकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया है। अधिकांश परिवारों में बच्चे अपनी माँ को 'मम्मी' कहते हैं। क्या हम जानते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है? मिस्र में प्राचीन राजाओं की समाधियाँ ऊँचे-ऊँचे पिरामिडों में स्थित हैं। उन में रखे मृतदेह ही 'मम्मी' कहलाते हैं। और हम अपनी प्रिय व जीवित माता को मम्मी कह रहे हैं।

शौर्यमय मातृत्व के महाकाव्य

सर्वविदित है कि हमारा राष्ट्र बहुविध संकटों से घिरा है। हमारे समाज व मातृभूमि की अखण्डता को ध्वस्त करने के सतत प्रयास हो रहे हैं। समय की कसौटी पर खरे सिद्ध हुए हमारी सांस्कृतिक विरासत तथा आध्यात्मिक मूल्यों के समक्ष चुनौतियाँ बढ़ती जा रही हैं। चारों ओर संघर्ष व टकराव का वातावरण गहराता जा रहा है। ऐसी परिस्थिति में हमें अपने बालकों को किस प्रकार का प्रशिक्षण देना है? क्या हम उन्हें घर बैठे रहकर 'सुरक्षित' रहने और बाहर जाकर 'गड़बड़ी' न करने का पाठ पढ़ाएंगे? क्या हम उनके निजी सुख-सुविधाओं व भविष्य की ही चिन्ता करने तथा "अन्य झमेलों में न पड़ने का ही राग अलापते रहेंगे?" अन्ततः हम उन्हें क्या सिखाना चाहते हैं?

'महाभारत' में एक सुन्दर दृष्टान्त है। विदुला नाम की रानी ने अपने पुत्र संजय को युद्ध भूमि में भेजा। परन्तु वह बेचारा भयाक्रान्त हो गया और दुश्मन को पीठ दिखा कर अपनी राजधानी वापस भाग गया। जब विदुला ने अपने पुत्र को इस प्रकार डरा हुआ देखा, तो उसने किले का द्वार बन्द कर दिया और उसकी तीव्र भर्त्सना की। दोनों का पारस्परिक वार्तालाप 'विदुला-संजय संवाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इसमें विदुला अपने पुत्र

को समझाती है कि वीर योद्धा समराङ्गण में कैसा व्यवहार करते हैं? माँ उसे तुरन्त युद्ध में लौटने तथा विजेता नायक के रूप में ही वापस आने का आदेश देती है। कथानक के अनुसार संजय रणभूमि में संघर्ष करते हुए वीरता का अद्भुत परिचय देता है और जब वापस घर आता है, तो उसकी माँ उसका ससम्मान स्वागत करती है।

तथैव, पाँचों पाण्डवों को युद्ध भूमि में जाने से पूर्व कुन्ती द्वारा दिया गया आशीर्वचन भी उसके बीरोचित स्वर की दृष्टि से उल्लेखनीय है-

यदर्थ क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः।

न हि वैरं समासाद्य सीदन्ति पुरुषर्षभाः।।”

(वह समय आ पहुँचा है, जिसके लिए क्षत्रिय माताएँ अपने पुत्रों को जन्म देती हैं। पराक्रमी लोग शत्रु के सम्मुख होने पर दीन-हीन नहीं होते)

‘महाभारत’ में एक और श्लोक है, जिसका अर्थ है कि कोई माता ऐसे पुत्र को जन्म न दे, जो चुपचाप अपमान को सहन करे और जो पुरुषत्व व पराक्रम से रहित होकर शत्रु के उल्लास का कारण बने।

शाश्वत मूल्यों का प्रतिपादन

फिर हमारे हर कृत्य में राष्ट्रीय स्वाभिमान की छाप होनी चाहिए। हमें अपने दैनन्दिन, व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में स्वदेशी का ही प्रयोग करने की शपथ लेनी चाहिए। इससे विशुद्ध राष्ट्रीय चरित्र का आविर्भाव होता है। पश्चिमी सभ्यता की चमक-दमक के अन्धानुकरण से इस देश की पुत्रियों की श्रेष्ठता और सतीत्व की अनुपम परम्पराएँ विनष्ट हो जायेंगी।

हिन्दू लोग सत्य के प्रति अपनी अटल निष्ठा तथा उत्कृष्ट चारित्र्य के लिए विश्वविख्यात थे। परन्तु इन दिनों हमारे बड़े-बड़े नेता भी अपने भ्रष्टाचरण तथा नैतिक पतन के लिए कुख्यात हो गये हैं। भावी पीढ़ी को ऐसे क्षयकारी प्रभाव से हमारी माताएँ ही बचा सकती हैं। उन्हें घर में ऐसे पवित्र वातावरण का सृजन करना चाहिए कि पाप की कमाई खाने की बजाय व्यक्ति भूखा रहना पसन्द करे। बेईमानी से अर्जित अपवित्र भोजन में साझीदार न होने की प्रतिज्ञा सम्पूर्ण परिवार को करनी चाहिए। यदि हमारी माताएँ अपने बच्चों में ऐसे कल्याणकारी एवं वीरोचित संस्कार भर सकें, तो यह निश्चित है कि आने वाली पीढ़ियाँ हमारे राष्ट्र के समक्ष उपस्थित विविध चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर सकेंगी।

यदि सामाजिक ताना-बाना नष्ट हो गया, तो

समाज के प्रति हमारा दृष्टिकोण भी महत्त्व का विषय है। यह स्पष्ट है कि व्यक्तिगत व पारिवारिक जीवन की सुरक्षा व प्रसन्नता बहुत सीमा तक अपने समाज के उत्कर्ष पर निर्भर है-इतना कि सामाजिक शान्ति व सुरक्षा के बिना व्यक्तिगत, नैतिक व आध्यात्मिक महापुरुषों का अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। अतः यह हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हम अपने सामाजिक जीवन को स्वस्थ बनाएँ।

गत शताब्दी में हमने अपने समाज जीवन को सुसंगठित अक्षुण्ण व स्वाभिमानी बनाने का प्रयास ही नहीं किया। हम भूल गये कि हमें एक सुगठित व एकात्म इकाई के रूप में रहना है। विराट मानव शक्ति होते हुए भी ‘अकेलेपन’ का भाव हमें ले डूबा। एक बार नागपुर में लगभग बीस हजार लोगों का सम्मेलन हुआ। अचानक कोई चिल्ला पड़ा, “अरे वे आ गये!” यह सुनते ही सारी भीड़ घबराहट व हड़बड़ में तितर-बितर हो गयी। लोग चप्पल-जूते छोड़कर भाग गये। किसी ने एक भागते हुए व्यक्ति से पूछा, “क्या हुआ?” उसने कहा, “मुझे नहीं मालूम।” सभी डर कर भाग रहे हैं, इसलिए मैं भी भाग रहा हूँ।” “परन्तु तुम रुककर मालूम तो

करो कि क्या हुआ?” उसने कहा, “मैं अकेला क्या कर सकता हूँ?” (मालूम भी नहीं कर सकता)। हम सब की यही स्थिति है।

वास्तविक यज्ञ

हम एक ही समाज की सन्तान हैं और हमें अपने सुख दुःख परस्पर बाँटने हैं- इस एकात्मभाव का अभाव ही हमारी दुर्गति का मूल कारण है। समाज के प्रति प्रेम तथा श्रद्धाभाव आवश्यक है। राष्ट्र के प्रति हमारा प्रेम और समर्पण ठोस रूप में प्रकट होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमारे समाज में अनेक लोगों को दैनिक भोजन के बिना रहना पड़ता है। क्या हम उनके प्रति संवेदनशील हैं? क्या हमारे मन में उनके लिए कुछ करने की इच्छा जागृत होती है? प्राचीन काल में हमारे यहाँ ‘बलिवैश्वदेव यज्ञ’ होता था, जहाँ सर्वप्रथम निर्धन व भूखों को भोजन कराया जाता था, शेष सब बाद में खाते थे। आज भी हम समाज के भूखे लोगों के लिए मुट्ठी भर अन्न निकालकर अपना भोजन कर सकते हैं और करना भी चाहिए। यही वास्तविक ‘बलि वैश्वदेव यज्ञ’ होगा।

महिलाओं में साक्षरता एक और महत्त्वपूर्ण अभियान है, जिसे हमारी शिक्षित माँ-बहनें ही चला सकती हैं। परन्तु यहाँ भी साक्षरता से अधिक ध्यान संस्कारों पर देना होगा। एतदर्थ अपनी मातृभूमि के मानचित्र द्वारा अपने नदी, पर्वत, तीर्थ, मन्दिर दिखाकर उन्हें हिमालय से कन्याकुमारी पर्यन्त सम्पूर्ण भारत का दर्शन कराना चाहिए। भाषा, साहित्य, कला और सामाजिक परम्पराओं के क्षेत्रों में भारत की सुसम्पन्न विविधता से भी उनका परिचय कराना चाहिए। इस प्रकार उन्हें राष्ट्र जीवन की सच्ची भावना से आत्मीयता पूर्ण ढंग से ओतप्रोत कर देशभक्ति की प्रेरणा देनी चाहिए।

सावित्री की आत्मा का आह्वान

मुझे विश्वास है कि यदि माताएँ समाजोत्थान का संकल्प कर लें, तो इस लोक या परलोक में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो उन्हें पराभूत कर सके। उनके सामने सावित्री का आदर्श विद्यमान है, जिसके सम्मुख यमराज को भी अपनी पराजय स्वीकार करनी पड़ी थी। ईश्वर करे, उनमें आदर्श के प्रति एकनिष्ठ भक्ति, शुद्ध चारित्र्य और अद्वितीय शौर्यभाव उत्पन्न हो।

यदि हम एक बार ऐसा कर सके, तो यह निश्चित है कि दीर्घ कालरात्रि का अवसान होगा और केवल भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व तमस से मुक्त होकर हमारे धर्म की अरुणिम छटा से देदीप्यमान होगा और क्षितिज पर स्वर्णिम आभा के साथ नव विहान का अरुणोदय होगा। हमारे धर्म के विषय में गाँधी जी ने भी निम्नलिखित भविष्यवाणी की है- “हिन्दुत्व सत्य की अविश्रान्त अन्वेषणा है और यदि वह आज स्थिर, निष्क्रिय तथा विकासशून्य हो गया है, तो इसका कारण यह है कि हम थक गये हैं। परन्तु, जैसे ही यह थकान दूर होगी, हिन्दुत्व अपनी इतःपूर्व अज्ञात आभा के विस्फोट से विश्व को पुनराच्छादित कर देगा।”

५. विदेशों में शिक्षा कैसी ग्रहण करें ?

(गुजरात प्रदेश के एक संघ-कार्यकर्ता इलेक्ट्रिकल इंजीनियरिंग का अभ्यास करने के लिए, अमेरिका के इल्लियानिस (Illionis) विश्व विद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे।

उक्त स्वयंसेवक ने सरसंघचालक श्रीगुरुजी को स्वकुशल-क्षेम निवेदन किया। इस पत्र के उत्तर में श्रीगुरुजी ने जो विचार लिखकर भेजे, उन्हें यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है)

श्री गुरुजी ने लिखा है : “इसमें संदेह नहीं कि आप अभ्यास द्वारा अधिक पात्रता प्राप्त कर कुशलतापूर्वक अमरीका से स्वदेश लौट आयेंगे। वहाँ के जीवन, लोगों के उत्तम गुणों, व्यक्तिगत तथा सामाजिक चरित्र, राष्ट्रीय परंपराओं, राजनैतिक संकेतों तथा नीतिमत्ता आदि का अध्ययन करना अच्छा रहेगा। साथ ही छोटे-बड़े उद्योगों व कृषि आदि सम्बन्धी उन्नति के प्रयासों, शैक्षणिक संस्थाओं तथा उनमें कार्य करने वाले अध्यापकों तथा अध्ययन करने वाले छात्रों की मनोवृत्ति को उत्तम रीति से समझने का प्रयास करना लाभदायक सिद्ध होगा। किसी भी समाज को पूर्णरूपेण निर्दोष नहीं पाया जा सकता। ऐसी स्थिति में दोषों की ओर ध्यान जाना अस्वाभाविक नहीं। किन्तु प्रयत्नपूर्वक अच्छाई देखना ही लाभदायक होता है। आत्मोन्नति का यही मार्ग है। दूसरों के दोषों को देखकर आनन्दित होना अनुचित व असभ्यता का परिचय है - यह सोचकर स्वयं को दोषपूर्ण दृष्टि से बचाना आवश्यक है। यह सब करते हुए भी वहाँ के समाज का एकांगी ज्ञान ही न हो, यह भी ध्यान रखना अच्छा होगा।”

“इस प्रकार अध्ययन करने से स्वदेश में, स्व-समाज की परम्पराओं के आधार पर आधुनिकतम जीवनरचना करने का ज्ञान हो सकेगा और आप राष्ट्र के लिए अतीव उपकारी सिद्ध होंगे।”



सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. भारतीय शिक्षा का सच्चा स्वरूप
(गीता विद्यालय, कुरुक्षेत्र में श्री गुरुजी का उद्बोधन)
श्री गुरुजी - समग्र दर्शन खण्ड-७
२. शिक्षा का केन्द्र बिन्दु शिक्षक
(आधार तत्त्वों का पोषण)
विचार नवनीत, पृष्ठ २४१
३. हम और हमारे विद्यार्थी
विचार नवनीत, पृष्ठ ३७२
४. माता बालक की प्रथम गुरु
(मातृशक्ति का आह्वान)
विचार नवनीत, पृष्ठ ३६५
५. विदेशों में शिक्षा कैसे ग्रहण करें ?
श्री गुरुजी समग्र दर्शन खण्ड-३, पृष्ठ ११७

- कुरुक्षेत्र
दिनांक २१ जनवरी, १९७३